आलोचनाञ्जलि

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आलोचनाञ्जलि

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२८

प्रथम संस्करण]   [मूल्य १)

निवेदन

इस पुस्तक में उन आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है जो, समय-समय पर, "सरस्वती" में प्रकाशित हो चुके हैं। उनके एकत्रीकरण में उनके लिखे जाने के समय के क्रम का विचार नहीं किया गया। जो लेख एक दूसरे से परस्पर कुछ मेल रखते हैं वे पास-पास रख दिये गये हैं। परन्तु प्रत्येक लेख के लिखे जाने का समय उसके नीचे दे दिया गया है।

इसमें ६ और ७ नम्बर के लेख तो दूसरों के परिश्रम के फल हैं, क्योंकि उनमें अनुवाद और सङ्कलन का आश्रय लिया गया है। अवशिष्ट १० लेख संग्रहकार ही के गोद-गाद के परिणाम हैं। इनमें से अधिकांश लेखों में संस्कृत-साहित्य के कई प्राचीन और प्रतिष्ठित ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। दो-एक लेख इसमें ऐसे भी हैं जो हिन्दी तथा मराठी भाषाओं के आधुनिक साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु जिन ग्रन्थों या पुस्तकों की आलोचना उनमें है उनका भी आधार प्राचीन ही साहित्य है। अतएव, आशा है, इस संग्रह में प्राचीन पुस्तकों के प्रेमियों को मनोरञ्जन की कुछ सामग्री अवश्य मिलेगी।

इस संग्रह के पहले लेख के तीन खण्ड हैं। वे, एक के बाद एक, लिखे गये हैं। उनमें से प्रत्येक लेख में अन्यान्य बातों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न देश और काल के विद्वानों की दोषोद्भावना-

विषयक सम्मतियाँ भी उद्धृत की गईं हैं और यह सिद्ध किया गया है कि पूर्ववर्ती कवियों और पण्डितों की पुस्तकों की खण्डनात्मक किंवा दोषदर्शक समालोचनायें करने की परिपाटी बहुत पुरानी है। अतएव आधुनिक लेखकों में से यदि कोई लेखक, शिष्ट शब्दों में, वैसी ही आलोचना लिखने की चेष्टा करे तो उसका वह उद्योग निन्द्य नहीं हो सकता। प्राचीनों की समालोचना सनातन से होती आई है और अब भी होती है। तत्त्वविवेचन की दृष्टि से लिखी गई ऐसी समालोचनाओं से साहित्य को हानि नहीं पहुँच सकती; उनसे तो उसे लाभ ही पहुँचने की सम्भावना अधिक रहती है।

दौलतपुर, रायबरेली
११ जुलाई १९२७

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

आलोचनाञ्जलि

१—प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना

समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है। जैसे न्यायाधीश राग, द्वेष और पूर्व-संस्कारों से दूर रहकर न्याय का काम करता है, सच्चा समालोचक भी वैसा ही करता है। उसके फ़ैसले को सुनकर कोई प्रसन्न होगा या अप्रसन्न; उसकी निन्दा होगी या प्रशंसा; इसकी वह कुछ परवा नहीं करता। कलकत्ता-हाईकोर्ट के विचारपति माननीय फ्लेचर साहब के कई फ़ैसलों पर कुछ स्वार्थी लोगों ने बेहद नाराज़गी ज़ाहिर की। परन्तु उससे जज महोदय ज़रा भी विचलित नहीं हुए। वे अपना न्याय-कार्य शुद्ध हृदय से करते रहे। समालोचक भी राग और द्वेष, द्रोह और दुराग्रह, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि की प्रेरणा से की गई टीकाओं की ओर दृक्पात नहीं करते। उन्हें घृणापूर्ण उपेक्षा की दृष्टि से देखकर केवल हँस दिया करते हैं।

कभी-कभी कम उम्र के नये न्यायाधीशों को बड़े पुराने और बड़े क़ानूनी बैरिस्टरों की बहस सुननी पड़ती है। पर उनकी बहस का कुछ भी फल नहीं होता। फ़ैसला उनके मुवक्किलों के ख़िलाफ़ हो जाता है। इस दशा में कोई यह नहीं कह सकता कि इस नये न्यायाधीश को इस पुराने ख़ुर्राट बैरिस्टर के ख़िलाफ़ फ़ैसला सुनाने का मजाज़ नहीं। न्यायाधीश का आसन बहुत ही उच्च और पवित्र समझा जाता है। जो बादशाह न्यायाधीश को नियुक्त करता है ख़ुद उसे भी अपने ही नियुक्त किये गये न्यायाधीश के सामने हाज़िर होना पड़ता है। अभी, उस दिन, विलायत में एक ऐसी ही घटना हो गई। एक आदमी ने राजेश्वर जार्ज पञ्चम के विषय में एक अपमान-जनक बात लिख दी। उस पर मुक़द्दमा चलाया गया। राजेश्वर के प्रतिनिधि को इस मुक़द्दमे की पैरवी के लिए राजेश्वर ही के द्वारा मुक़र्रर किये गये न्यायाधीश के सामने हाज़िर होना पड़ा। सच्चे समालोचक का भी यही हाल है। बड़े-बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास-लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर फ़ैसला सुनाने का उसे अधिकार है। सभ्यतापूर्ण और युक्तिसङ्गत शब्दों में उसके फ़ैसले की आलोचना करने का सबको मजाज़ है। यदि असभ्यतापूर्ण और उपहास-जनक शब्दों में कोई किसी जज के फ़ैसले की आलोचना करता है तो उसे अदालत से दण्ड मिलता है। दूसरे का उपहास करने ही के उद्देश से असभ्यतापूर्ण शब्दों में समा-

लोचना करनेवाले को भी, हिन्दी को छोड़कर, अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों की अदालत से सज़ा मिलती है।

योग्य समालोचक के लिए यह कोई नहीं कह सकता कि जिसकी पुस्तक की तुम समालोचना करना चाहते हो उसके बराबर विद्वत्ता प्राप्त कर लो तब तुम समालोचना लिखने के लिए क़लम उठाओ। होमर ने ग्रीक भाषा में इलियड-काव्य लिखा है। वाल्मीकि और कालिदास ने संस्कृत में अपने-अपने काव्य लिखे हैं। फ़िरदौसी ने फ़ारसी में शाहनामा लिखा है। कौन ऐसा समालोचक इस समय है जो इन भाषाओं में पूर्वोक्त विद्वानों के सदृश योग्यता रखने का दावा कर सकता हो। तो फिर क्या इन पुस्तकों की समालोचना ही न हो? कोई भी समझदार आदमी ऐसी राय न देगा। इस तरह की राय देना मानों यह कहना है कि साहित्य की समालोचना-शाखा एकदम ही काट डाली जाय; क्योंकि काहे को कोई कालिदास और वाल्मीकि के तुल्य विद्वान् और कवि होगा, और काहे को उनके काव्यों की कभी समालोचना होगी, और काहे को समालोचना से होनेवाले लाभों से साहित्य का उपकार होगा।

समालोचना करने की प्रणाली इस देश में बहुत पुराने समय से चली आ रही है। परन्तु वह प्रणाली पुराने ढँग की है। समालोचना करने की नई प्रणाली अँगरेज़ी शिक्षा की बदौलत हम लोगों ने सीखी है। अँगरेज़ी-साहित्य का

एक अंश समालोचना भी है। अँगरेज़ी-भाषा के साहित्य के हितैषी सच्चे समालोचकों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। अँगरेज़ी-भाषा में समालोचना का इतना आदर और इतना प्रचार है कि महाकवि शेक्सपियर के ग्रन्थों की नई-नई समालोचनायें अब तक निकलती जाती हैं। ये सब समालोचनायें प्रशंसात्मक ही नहीं, इनमें शेक्सपियर के दोष भी दिखलाये जाते हैं। और दोष भी एक तरह के नहीं, सब तरह के—शेक्सपियर की भाषा के दोष, शेक्सपियर की कविता के दोष, शेक्सपियर के नाटक-पात्रों के दोष। पर इन बातों को कोई बुरा नहीं समझता।

हिन्दी की अपेक्षा बँगला, मराठी और गुजराती भाषायें बहुत उन्नत हैं। इन भाषाओं के विद्वान् भी प्राचीनों के ग्रन्थों की समालोचना करना बुरा नहीं समझते। और जो वे इतने सङ्कीर्ण-हृदय होते कि ऐसी बातों को बुरा समझें तो उनकी भाषाओं की कभी इतनी उन्नति न होती। इस प्रान्त के हिन्दी-भाषा-भाषियों का परिचय गुजराती-भाषा के ग्रन्थकारों से उतना नहीं जितना कि बँगला और मराठी के ग्रन्थकारों से है। इस कारण गुजराती को हम जाने देते हैं। इस लेख में हम केवल बँगला और मराठी के कुछ नामी-नामी विद्वानों की की हुई समालोचनाओं के नमूने उद्‌धृत करके यह दिखलाना चाहते हैं कि इन लोगों ने प्राचीन कवियों के काव्यों पर कैसे-कैसे दोषारोपण किये हैं।

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जीवनचरित हिन्दी में निकल चुका है। आप संस्कृत के कैसे पण्डित और कैसे महात्मा थे, यह पाठकों को विदित ही है। उन्होंने बँगला में एक पुस्तक लिखी है। उसकी कई आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं। उसमें संस्कृत-भाषा और संस्कृत-साहित्य का वर्णन और समालोचन है। विद्यासागर महाशय ने इस पुस्तक में संस्कृत-भाषा और संस्कृत-काव्यादि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। परन्तु जहाँ-जहाँ आपको मुनासिब मालूम हुआ है वहाँ-वहाँ आपने उनके दोष भी दिखाये हैं। ऐसा करने में उन्होंने ज़रा भी सङ्कोच नहीं किया। कालिदास के कुमार-सम्भव में १७ सर्ग हैं। पर पहले के सात ही सर्गों के पढ़ने-पढ़ाने की परिपाटी बहुत दिनों से चली आती है। पिछले १० सर्ग विलुप्तप्राय थे। उनका प्रचार अभी कुछ ही समय से छापेख़ाने की बदौलत हुआ है। उनके अप्रचार का कारण विद्यासागर महाशय यह बतलाते हैं—

"आठवें सर्ग में महादेव-पार्वती का विहार-वर्णन है। वह भी एक सामान्य नायक-नायिका के विहार-वर्णन के सदृश है। नवें सर्ग में पार्वती का कैलाश-गमन और दसवें में कार्त्तिकेय का जन्म-वृत्तान्त वर्णित है। इन दोनों सर्गों में भी पार्वती-विषयक अश्लील वर्णन है। भारतवासी महादेव और पार्वती को जगत्-पिता और जगन्माता समझते हैं। जगत्-पिता और जगन्माता-सम्बन्धी अश्लील वर्णन पढ़ना अत्यन्त अनुचित जान-

कर लोगों ने कुमार-सम्भव के शेष १० सर्गों का अनुशीलन बन्द कर दिया था। आलङ्कारिकों ने भी कुमार-सम्भव के महादेव-पार्वती-विषयक विहार-वर्णन को अत्यन्त अनुचित और अत्यन्त दूष्य बतलाया है।"

देखिए, विद्यासागर जैसे विख्यात पण्डित और महात्मा ने कालिदास के इस काव्य पर कैसे स्पष्ट शब्दों में दोषारोप किया है। उन्होंने भारवि के किरातार्जुनीय काव्य में भी दोषोद्भावना की है। लिखा है कि यह काव्य किञ्चित् दुरूह है; कालिदास की रचना की तरह सरल नहीं है। माघ-कवि के शिशुपालवध पर तो विद्यासागर ने बड़े ही कठोर दूषण लगाये हैं। सुनिए, वे क्या कहते हैं—

"इस काव्य के वर्णन अन्त में अत्यन्त नीरस हैं + + अप्रासङ्गिक बातों का बड़े विस्तार से वर्णन करना माघ का अति प्रधान दोष है। + + + + + भारत-वर्ष के पण्डित माघ को सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य कहते हैं। परन्तु उनकी यह बात किसी तरह अङ्गीकार नहीं की जा सकती।"

इससे यह न समझिए कि विद्यासागर ने सब कहीं सब काव्यों की निन्दा ही निन्दा की है। नहीं, प्रशंसनीय बातों की प्रशंसा भी की है। पर जहाँ उन्हें कोई दोष देख पड़ा है वहाँ उन्होंने उसे भी दिखाने में कसर नहीं की।

अब ज़रा श्रीहर्ष के नैषधचरित में विद्यासागर के द्वारा की गई दोषोद्भावना सुन लीजिए—

"इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहर्ष में असाधारण कवित्व-शक्ति थी। परन्तु उनमें तादृश सहृदयता न थी। उन्होंने नैषधचरित को आद्योपान्त अत्युक्तियों से इतना भर दिया है और उनकी रचना इतनी माधुर्य-वर्जित, लालित्य-हीन, सारल्य-शून्य और अपरिपक्व है कि उसे किसी तरह अत्युत्तम काव्य नहीं कह सकते। + + + + श्रीहर्ष की अत्युक्तियाँ इतनी उत्कट हैं कि उनके कारण उनकी कविता उपादेय होने के बदले हेय ही अधिक हो गई है।"

कितनी तीव्र सम्मति है। इस इतने विख्यात काव्य को विद्यासागर ने एकदम हेय कह दिया। बाणभट्ट की कादम्बरी को उन्होंने अनेक स्थलों पर दुरूह और नीरस बतलाया है और उसके लम्बे-लम्बे समासों को भी बुरा कहा है। दण्डी के दशकुमारचरित और सुबन्धु की वासवदत्ता पर भी विद्यासागर ने कई तरह के दोषारोपण किये हैं।

श्रीयुत अरविन्द घोष

की विद्वत्ता, योग्यता और समालोचन-शक्ति छिपी नहीं है। कई साल हुए उन्होंने कालिदास पर एक लेख अँगरेज़ी-भाषा में लिखकर मदरास के इंडियन रिव्यू नामक मासिक पत्र में प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने अपूर्व विद्वत्ता का परिचय दिया है। अनेक दृष्टियों से उन्होंने कालिदास के काव्यों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। स्थान-स्थान पर उन्होंने कालिदास की प्रशंसा की है। परन्तु इसके साथ ही कालि-

दास पर दोषारोपण भी उन्होंने किये हैं। आपने अपनी समालोचना में एक जगह लिखा है—

"कालिदास का आत्मिक चरित उतना अच्छा नहीं मालूम होता। उनके बुरे चाल-चलन के विषय में बहुत सी बातें सुनी भी जाती हैं। उन्हें हम सत्य भी नहीं मान सकते, किन्तु कालिदास के काव्यों का कोई भी पक्षपात-रहित पाठक यह न कह सकेगा कि कालिदास धर्मानुरागी अथवा धार्मिक नियमों की पाबन्दी करनेवाले थे। उनके काव्यों में श्रेष्ठ आदर्श और अच्छे विचारों की प्रशंसा अवश्य है। पर यह प्रशंसा काल्पनिक है। उनके अच्छे विषयों के वर्णन से उनकी कल्पना-शक्ति की श्रेष्ठता मात्र साबित होती है। उसका प्रभाव भी अच्छे लोगों ही की कल्पना-शक्ति पर पड़ सकता है। वाल्मीकि और व्यास के काव्यों की तरह कालिदास के काव्यों में चरित्र सुधारने की शक्ति नहीं।"

सो अरविन्द बाबू की राय में कालिदास के काव्य चरित्र सुधारनेवाली सामग्री से एकदम ख़ाली हैं!

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर

से पाठक अवश्य ही परिचित होंगे; वे बङ्गाल के सर्वोत्तम कवि, समालोचक और उपन्यासकार हैं। उनकी कितनी ही पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी में निकल चुके हैं। उन्होंने प्राचीन साहित्य नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसके कादम्बरी-चित्र नामक निबन्ध में एक जगह आप लिखते हैं—

"वाणभट्ट लिखने तो बैठे थे कहानी, पर भाषा को ही उन्होंने विपुल गौरव दिया है। कहानी के लाघव की उन्होंने कुछ भी परवा नहीं की। भाषा खूब आलङ्कारिक हो, कहानी चाहे बिगड़ जाय। उन्होंने संस्कृत-भाषा को अनुचरों से घिरे हुए राजेश्वर की तरह आगे चलाया है। कहानी के हाथ में छत्र देकर उसे प्रच्छन्न भाव से पीछे-पीछे चलाया है। भाषा की राज-मर्यादा बढ़ाने के लिए ही कहानी की थोड़ी सी ज़रूरत समझी गई है। यही कारण है जो वह बेचारी वहाँ रहने पाई है। परन्तु उसकी तरफ़ किसी की भी दृष्टि नहीं।"

कितनी कठोर आलोचना है। पर कौन कहेगा कि यह आक्षेप ठीक नहीं।

डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण
एम० ए०, पी-एच० डी०

कलकत्ते के संस्कृत-कालेज के प्रधान अध्यापक थे। आप नामी विद्वान् थे। संस्कृत के सिवा पाली और तिब्बतीय आदि भाषायें भी जानते थे। उन्होंने भवभूति पर एक पुस्तक बँगला में लिखी है। उसमें भवभूति के नाटकों की विस्तृत आलोचना है। भवभूति के सम्बन्ध की और भी कितनी ही बातों का विचार उसमें किया गया है। इस पुस्तक में डाक्टर साहब ने आलङ्कारिकों का हवाला देकर लिखा है—

"भवभूति के काव्यों में स्थान-स्थान पर दोष दिखलाये गये हैं। महावीरचरित के दूसरे अङ्क में परशुराम और रामचन्द्र

आपस में युद्ध-सम्बन्धी बातें कर रहे हैं। परशुराम ने जिस समय रामचन्द्र को युद्ध के लिए ललकारा उसी समय कञ्चुकी ने आकर कहा—राजन्, कङ्कण खोलने के लिए रामचन्द्र को रनिवास में भेज दीजिए। यह अकाण्डच्छेद नामक दोष है।"

मम्मट ने इस दोष का उल्लेख काव्य-प्रकाश में किया है।

डाक्टर रामदास सेन

नाम के एक बड़े विद्वान् बङ्गाल में हो गये हैं। वे एशियाटिक सोसाइटी के मेम्बर थे। उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास, दर्शनशास्त्र, विज्ञान और कला-कौशल आदि पर अनेक गवेषणापूर्ण लेख लिखे हैं। वे सब कई जिल्दों में पुस्तकाकार छपे हैं और अध्यापक मोक्षमूलर को समर्पित किये गये हैं। इन लेखों में एक लेख नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष पर भी है। इस लेख में डाक्टर रामदास सेन, एक जगह पर, लिखते हैं—

"इन सब वर्णनों को देखने से मालूम होता है कि श्रीहर्ष एक अद्वितीय कवि थे। परन्तु दुःख की बात है कि उनकी रचना अत्युक्ति-दोषों से अत्यन्त दूषित है।"

राय साहब दिनेशचन्द्र सेन, बी० ए०

के नाम से पाठक शायद परिचित होंगे। उन्होंने वङ्ग-भाषा और साहित्य नाम का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है। वर्षों की मिहनत और खोज से यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। इसने सेन बाबू के स्वास्थ्य का सत्यानाश कर दिया। यह ग्रन्थ इतना प्रामाणिक समझा गया कि गवर्नमेंट ने इसके लिखने के

उपलक्ष्य में सेन बाबू को पेन्शन दे दी। इस पुस्तक में सेन बाबू ने वङ्ग-भाषा के पुराने क़वियों के काव्यों की बहुत विचारपूर्वक समालोचना की है। इस समालोचना में उन्होंने दोष भी ख़ूब ही दिखलाये हैं। बड़े से बड़े कवियों तक को उन्होंने नहीं छोड़ा। किसी की भाषा को दोषपूर्ण बतलाया है; किसी की रचना को विरक्ति-उत्पादक बतलाया है। किसी के काव्यांश को प्राचीन संस्कृत-कवियों की कविता की नक़ल बतलाया है। किसी की कविता को शब्दाडम्बर का ख़ज़ाना बतलाया है। किसी के भावों को अति निकृष्ट और लज्जाजनक बतलाया है। कविवर भारतचन्द्र के विषय में उन्होंने लिखा है—

"देवादिदेव महादेव की इस प्रकार अवमानना करना शिव-शक्ति के उपासक कवि के लिए अच्छी बात नहीं।"

दिनेश बाबू ने चन्द्रकान्त, कामिनीकुमार और जीवनतारा काव्यों के विषय में लिखा है—

"इन काव्यों ने बहुत दिनों तक लोक-रुचि पर दौरात्म्य-भाव प्रकट किया है। ये इतनी अश्लील हैं कि इन्हें पढ़ते समय (महादेव की अवमानना करनेवाले) ख़ुद भारतचन्द्र को लज्जित होना पड़ता। कठोर समालोचना करके ही छोड़ देना इन काव्यों के लेखकों के लिए यथेष्ट दण्ड नहीं। नैतिक अदालत में इन पर बेत पड़ने चाहिए।"

कहिए, इतनी कठोर समालोचना क्या आपने कभी हिन्दी में भी देखी है? यह लेख बढ़ता जा रहा है। इसलिए दो-

एक महाराष्ट्र विद्वानों की दोषारोपपूर्ण समालोचनाओं के नमूने देकर अब हम इसे समाप्त करेंगे।

माधवराव वेङ्कटेश लेले, बी० ए०, एल० सी० ई०

मराठी के प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने कालिदास और भवभूति आदि के प्रायः सारे नाटकों का सार और समालोचन मराठी में लिखा है। भवभूति के मालतीमाधव पर उनकी राय सुनिए—

"इसमें व्यर्थ विस्तार और द्विरुक्तियों का कमाल है। + + + + न इसमें संविधानक-सम्बन्धी कोई वैचित्र्य है और न देखनेवालों का मन आकर्षण करने योग्य कोई गुण ही है। इसमें दूरान्वयी-समास-प्रचुर, पात्रों के मुँह में शोभा न देने योग्य, पुनरुक्ति-पूर्ण और व्यर्थ भाषण हैं।"

इसी तरह महावीर-चरित पर भी इन्होंने दोषारोपण किया है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में तो कई जगह इन्होंने दोषोद्भावना की है। कहीं किसी भाषण की योग्यता के सम्बन्ध में शङ्का की है; कहीं किसी बात को वस्तु-स्थिति के अननुरूप बतलाया है; कहीं लिखा है—"कवि-कल्पना की दौड़ जहाँ और जिस तरह जी में आता है जाती है—यही सोचकर समाधान करना चाहिए।"

विष्णु-कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर, बी० ए०

संस्कृत के उद्भट विद्वान् और संस्कृत-काव्यों के उत्कृष्ट ज्ञाता थे। पूना के चित्रशाला-प्रेस और केसरी तथा मराठा पत्रों के जन्म प्रधानतया इन्हीं की मानसिक उद्भावना के फल हैं। शास्त्रीजी ने

कालिदास, भवभूति, बाण, सुबन्धु और दण्डी कवियों पर बड़े-बड़े आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के विषय में इनकी राय है कि इसका सिर्फ़ पहला और चौथा अङ्क अच्छा है। शकुन्तला, मेघदूत और रघुवंश की बहुत सी बातें इसमें आ जाने से इस नाटक की बड़ी ही रसहानि हुई है इनका आक्षेप है कि "पात्रों का स्वभाव-वैचित्र्य साफ़-साफ़ दिखाना संस्कृत-नाटकों में तो क्या सारी संस्कृत-कविता में बहुत कम पाया जाता है"

शास्त्रीजी ने वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु की बे-तरह ख़बर ली है। आप कहते हैं—

"सुबन्धु ने कथा के प्रधान अङ्ग की सर्वथा उपेक्षा की है। + + + उसका ग्रन्थ अनेक स्थलों में दूषित हो गया है; कहीं-कहीं तो हास्यास्पद भी हो गया है। + + + उसने अपने पात्रों की इतनी दुर्दशा की है कि कहा नहीं जाता।"

दशकुमारचरित के विषय में इन्होंने बहुत ही कड़ी बातें कही हैं; पर विस्तार-भय से हम उन्हें उद्धृत नहीं करते।

राव-बहादुर शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित, एम० ए०

संस्कृत के उत्तम विद्वान् थे। बम्बई के गवर्नर के दफ़्तर में ये प्रधान अनुवादक—"ओरियन्टल ट्रान्सलेटर"—थे। इनकी लिखी हुई वेदों की टीका बहुत दिनों तक इनके "वेदार्थ-यत्न" नामक पत्र में प्रकाशित होती रही थी। इन्होंने रघुवंश का सम्पादन करके उसका एक नया संस्करण निकाला था।

"कालिदास की निरङ्कुशता" में हमने कालिदास की एक उपमा में हीनता बतलाई है। वह हीनता—"अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः"—इस श्लोकार्ध से सम्बन्ध रखती है। इस उपमा पर पण्डित महाशय अपने सम्पादित रघुवंश में लिखते हैं—

"Whatever may be the fitness of the simile as regards the similitude, it certainly cannot be said to be very poetical, being derived altogether from a pedant's life."

अर्थात् समता के विचार से इस उपमा की चाहे जो योग्यता समझी जाय; पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह उपमा विशेष-कवितानुयायिनी नहीं—इसमें कवित्व की कोई विशेष बात नहीं। क्योंकि विद्या-दाम्भिक के जीवन से इसकी सामग्री ली गई है। मतलब यह कि कालिदास ने केवल अपना वैयाकरणत्व दिखलाने ही के लिए इस उपमा का प्रयोग किया है। शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित ने अपने सम्पादित रघुवंश में और भी कई जगह कालिदास पर आक्षेप किये हैं।

श्रीयुत गोपाल रघुनाथ नन्दर्गीकर

कालिदास के काव्यों के अच्छे ज्ञाता हैं। पूने के न्यू इँगलिश स्कूल में ये संस्कृत के अध्यापक थे। शायद अब तक वहीं हैं। इन्होंने भी रघुवंश का सम्पादन किया है। "कालिदास की निरङ्कुशता" में—"ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः"—

इत्यादि पद्य के विषय में हमने लिखा है कि यह उक्ति उद्वेग-जनक है। नन्दर्गीकरजी इस उक्ति पर लिखते हैं—

"This incident, as related by our poet, does not appear chaste, for the Ramayana nowhere says that the crow attacked any particular portion of Sita's person."

अर्थात् हमारे कवि ने इस घटना का जैसा वर्णन किया है वह विशुद्ध नहीं। रामायण में यह कहीं नहीं लिखा कि कौवे ने सीता के किसी अङ्ग-विशेष पर आक्रमण किया था। सो ये महाशय भी कालिदास की इस उक्ति को बुरा कहते हैं और उनके विरुद्ध टीका करना अनुचित नहीं समझते।

"कालिदास की निरङ्कुशता" में कालिदास के यतिभङ्ग का जो उदाहरण हमने दिया है उससे ये भी सम्मत हैं। इन्होंने लिखा है—"This is an example of what is called यतिभङ्ग"। इसके सिवा, रघुवंश के—"ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे"—इत्यादि श्लोक में दिखलाया गया अनौचित्य भी इन्हें खटका है।

ये तो एतद्देशीय विद्वानों के द्वारा की गई दोषोद्भावनाओं के उदाहरण हैं। प्राचीन आलङ्कारिकों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की कविता की जो छानबीन की है और उसके दोषों का जो सूक्ष्म विचार किया है उसके नमूने भी आगे दिखलाये जायँगे।

[अप्रेल १९११

पूर्व लेख में कितने ही प्रतिष्ठापात्र आधुनिक विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत करके यह दिखलाया गया कि इन लोगों ने अत्यन्त सङ्कोच-रहित होकर प्राचीन कवियों के दोष दिखलाये हैं। इनकी की हुई दोषोद्भावना से यह न समझना चाहिए कि जिनके दोष इन्होंने दिखलाये हैं उनसे इनकी शत्रुता थी; अथवा दुराग्रह और द्वेष की प्रेरणा से इन्होंने ऐसा किया है। प्राचीन कवियों के काव्यों की समालोचना करने में इन लोगों ने उनकी प्रशंसा भी की है। परन्तु जहाँ कहीं इन्हें, अपनी समझ के अनुसार, दोष देख पड़े हैं वहाँ इन्होंने उनका निरूपण करने में कसर भी नहीं की।

यह तो आधुनिक समालोचकों की बात हुई। प्राचीन समालोचकों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों पर दोषारोपण किये हैं। मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने तो कालिदास आदि महाकवियों के शब्द-प्रयोगों पर विचार करते समय कई जगह "निरङ्कुशाः कवयः" लिखा है अतएव प्राचीन कवियों के काव्यों की आलोचना करने में यदि कोई लेखक उन पर निरङ्कुशता का आरोप करे तो चौंकने की कोई बात नहीं। जिन लोगों ने साहित्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे हैं वे, दोष-निरूपणवाले अध्याय में, पूर्ववर्त्ती कवियों के दोष न दिखलाते तो दिखलाते किसके? यदि काव्यों में दोष न होते तो दोषों के निरूपण की आवश्यकता ही क्यों होती? और, यदि, प्राचीन

कवियों के दोष दिखलाना बुरा समझा जाता तो अपने-अपने ग्रन्थों में दोषप्रकरण को ये लोग जगह क्यों देते ? अब, यदि, इनके दिखलाये हुए दोषों को एक-एक करके निर्मूल सिद्ध करने की कोई चेष्टा करे तो उससे या तो यह सूचित होगा कि उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं, या वह दुराग्रह और ईर्ष्या-द्वेष के मद से मत्त होकर दोष दिखलानेवाले की केवल निन्दा करने के लिए ऐसा करता है। परन्तु ऐसा दुष्कर्म करनेवाले की लोक में ख़ुद ही निन्दा होती है।

इस लेखांश में हम अलङ्कारशास्त्र पर ग्रन्थ लिखनेवाले मुख्य-मुख्य विद्वानों के दिखलाये हुए दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं। ये सब दोष प्राचीन महाकवियों के काव्यों के हैं और अधिकांश वैसे ही हैं जैसे कालिदास की निरंकुशता नामक पुस्तक में दिखलाये गये हैं। जो दोष उसमें हमने दिख-लाये हैं उनमें से कुछ को छोड़कर शेष सब दोष ऐसे हैं जिनका उल्लेख प्राचीन टीकाकारों और अलङ्कारशास्त्र के ज्ञाताओं ने पहले ही से कर रक्खा है। इस बात को हमने उस पुस्तक में कह भी दिया है।

क्षेमेन्द्र

नाम का एक महा कवि काश्मीर में हो गया है। वह ईसा के ग्यारहवें शतक में विद्यमान था। उसकी प्रतिभा अत्यन्त व्यापक थी। विविध विषयों के उसने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उसने अपने सुवृत्ततिलक नामक ग्रन्थ में यह दिखलाया है कि

किस वृत्त में कौन बातें होने से वह अधिक अच्छा मालूम होता है। उसका मत है कि वंशस्थ-वृत्त में समस्त-पद न होने चाहिए, सब चरणों के अन्त में विसर्ग होने चाहिए, और चरणों की सन्धि विच्छेदयुक्त होनी चाहिए। इन लक्षणों से युक्त और अयुक्त पद्यों के उदाहरण देकर उसने अपने कहे हुए लक्षण की यथार्थता साबित की है। प्रसिद्ध महाकवि बाण-भट्ट का, वंशस्थ-वृत्त में रचा हुआ, एक पद्य उसने दिया है। वह पद्य यह है—

नमामि भर्त्तुश्चरणाम्बुजद्वयं सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम्।
समस्तसामन्तकिरीटवेदिकाविटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि॥

उसकी राय है कि यह वृत्त अच्छा नहीं। क्योंकि इसमें वे बातें नहीं—वे गुण नहीं—जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। क्षेमेन्द्र बड़ा ही पक्षपात-रहित समालोचक था। उसने, जगह-जगह पर, ख़ुद अपने पद्यों के भी दोष दिखलाये हैं।

क्षेमेन्द्र ने एक और ग्रन्थ लिखा है। उसका नाम औचित्य-विचारचर्चा है। उसमें एक जगह उसने कालिदास पर इसलिए आक्षेप किया है कि उन्होंने कुमारसम्भव में हर-गौरी का सम्भोगशृङ्गार वर्णन किया है। कालिदास का एक श्लोक है—

ऊरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत्॥

इस पर क्षेमेन्द्र की टीका सुनिए—

अत्राम्बिकासम्भोगवर्णने पामरनारीसमुचितं निर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धनार्थः पुष्णाति।

अर्थात् तीनों लोकों के गुरु, भगवान् त्रिलोचन, के विषय में ऐसी बात कहने से पूर्वोक्त श्लोक में अत्यन्त अनौचित्य आ गया है। देखिए, इस तरह का वर्णन करने के कारण कालिदास को मम्मट भट्ट ने भी फटकारा, विद्यासागर ने भी फटकारा, अरविन्द घोष ने भी फटकारा और अब महाकवि क्षेमेन्द्र भी फटकार रहे हैं। आगे चलकर आपको मालूम होगा कि विश्वनाथ कविराज ने भी, इस कारण, कालिदास पर आक्षेप किया है। परन्तु हिन्दी के एक-आध "त्रिजगद्गुरु" ऐसे वर्णन को दूषण नहीं, भूषण समझते हैं।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस रस का उद्बोधन किया जाय वह वर्णन के सर्वांश में व्याप्त होना चाहिए। ऐसा न होने से रस का यथेष्ट परिपाक नहीं होता। हमने कालिदास के—"वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं" इत्यादि श्लोक में रस-सम्बन्धी अनौचित्य बताया है। क्षेमेन्द्र ने भी यही बात कही है। अनौचित्यविचारचर्चा में इस श्लोक का अवतरण देकर यह महाकवि कहता है—

अत्र केवलकर्णिकारकुसुमवर्णनमात्रेण विधातृवाच्यतागर्भेणैव प्रस्तुतश्रृङ्गारानुपयोगिना तदुद्दीपनविभावोचितं न किञ्चिदभिहितम्।।

मतलब यह कि इस वर्णन में कालिदास ने कोई बात ऐसी नहीं कही जिससे शृङ्गार-सम्बन्धी उद्दीपन-विभाव की पुष्टि हो

सके। इसमें जो कुछ कहा गया है वह प्रस्तुत शृङ्गार-रस के लिए उपयोगी नहीं।

कुमारदास बड़ा प्रसिद्ध कवि हो गया है। उसकी बराबरी कालिदास से की जाती है। उसके काव्य "जानकीहरण" की प्रशंसा सारे विद्वान् हृदय से करते हैं। उसका एक श्लोक है—

अयि विजहीहि दृढोपगूहनं त्यज नवसङ्गमभीरु वल्लभम्।
अरुणकरोद्गम एष वर्त्तते वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः॥

इसकी लम्बी-चौड़ी समालोचना करके क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

तत्र संप्रोपसर्गशून्यशय्या (ब्दा) पूरणमात्रेण निरर्थकत्वादनुचितमेव।

इसमें क्षेमेन्द्र ने सम्+प्र उपसर्ग का होना निरर्थक, अतएव अनुचित, बतलाया है। भवभूति का एक श्लोक है—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तताम्
युद्धं स्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतो मुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥

इस पर क्षेमेन्द्र की समालोचना सुनने लायक़ है—

अत्र:प्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोर्वीररसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमनखरणापसरणान्यरणसंसक्तबालिव्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचितमेतत्।

अर्थात् भवभूति ने इस श्लोक में कुमार-लव-सम्बन्धी वीर-रस का उद्दीपन कराने के लिए प्रधान नायक रामचन्द्र के विषय के ताड़का-दमन इत्यादि अपवादों का प्रतिपादन करके उनके वीरत्व का सर्वथा विनाश कर डाला। क्षेमेन्द्र का भवभूति पर यह आक्षेप बड़ा ही कठोर है। परन्तु आज तक इस पर हरताल लगाने की किसी ने चेष्टा नहीं की।

इस कवि ने प्राचीन कवियों के इस तरह के न मालूम कितने दोष दिखलाये हैं। किसी-किसी पर तो बहुत ही गुरुतर आक्षेप किये हैं। परन्तु उन सबका उल्लेख इस छोटे से लेख में नहीं किया जा सकता।

मम्मट भट्ट

क्षेमेन्द्र के बाद हुए हैं। ये भी काश्मीर के थे। इनका "काव्यप्रकाश" बहुत ही आदरणीय ग्रन्थ है। उसके सातवें उल्लास में दोषों का निरूपण है। उसमें कालिदास, भारवि, भवभूति, भट्टि, राजशेखर और भट्ट-नारायण आदि कवियों के अनेक दोष दिखलाये गये हैं। हमारे लिखे हुए कालिदास की निरङ्कुशता नामक लेख में (१) "ते हिमालयमामन्त्र्य" (२) "द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां" (३) "गाहन्तां महिषा निपानसलिलं" (४) "स्रस्तां नितम्बादवलम्बमानां" (५) "वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता" (६) "यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां" (७) "तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्य्यं" आदि श्लोकों में जो दोषोद्भावनायें की गई हैं उन सबका उल्लेख

मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है। उनके सिवा कुमार-सम्भव के "महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिः", रघुवंश के "जुगोपात्मानमत्रस्तः", विक्रमोर्वशीय के "नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः" आदि श्लोकों को भी मम्मट ने दूषित बतलाया है। इनके सिवा कालिदास के और भी कई पद्यों में उसने दोषोद्भावना की है।

किरातार्जुनीय में भारवि का एक पद्य है—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः॥

इस पर मम्मट का आक्षेप है—

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम्।

उसका कहना है कि रणरूपी अश्वमेध में जो लोग मरते हैं उन्हें पशु कहना अनुचित है। भारवि के तो न मालूम कितने श्लोकों को मम्मट ने दूषित सिद्ध किया है।

भवभूति के मालती-माधव में एक श्लोक है। उसका आरम्भ इस प्रकार है—"जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दु-कलादयः"। इस पर मम्मट ने व्याहतत्व-दोष लगाया है।

प्रसिद्ध भट्टिकाव्य में एक श्लोक है—

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनताप्र्सीत्सममंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च॥

इसे मम्मट ने श्रुतिकटु-दोष के उदाहरण में उद्धृत किया है।

इस साहित्य-शास्त्र-प्रणेता ने अपने ग्रन्थ के दोषनिरूपण-प्रकरण को बड़े विस्तार से लिखा है। उसमें इसने अपने पूर्ववर्त्ती अनेक छोटे-बड़े कवियों के दोषों का उद्घोष किया है। हमने सिर्फ़ उसके दिखलाये हुए कुछ ही दोषों का दिग्दर्शन कराना यहाँ पर काफ़ी समझा है।

वाग्भट

भी एक प्राचीन और प्रतिष्ठित साहित्य-शास्त्र के वेत्ता हो गये हैं। उनके बनाये हुए नेमि-निर्माणकाव्य, काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन और वाग्भटालङ्कार बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ समझे जाते हैं। काव्यानुशासन के दूसरे अध्याय में उन्होंने भी महाकवियों के दोष दिखलाये हैं। रघुवंश के चौथे सर्ग में राजा रघु का दिग्विजय-वर्णन है। उसके उञ्चासवें श्लोक का उत्तरार्द्ध है—

तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे।

इस पर वाग्भट ने लिखा है—

अत्र पाण्ड्या इति बहुवचने तद्धितप्रत्ययलोपे पाण्डवा इति प्राप्नोति

इसमें 'पाण्ड्याः' शब्द को उन्होंने अशुद्ध बतलाया है। वे कहते हैं कि उसकी जगह 'पाण्डवाः' होना चाहिए। इसी तरह कालिदास के—तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्—में 'पातमायास' के बीच में 'प्रथमं' पद का आ जाना वे संस्कृत-व्याकरण-विरुद्ध समझते हैं। उनकी टीका है—

अत्र पातयामासेऽपि अव्यवधानेन प्रयोगः प्राप्नोति।

शिशुपालवध के बारहवें सर्ग में माघ ने लिखा है—"व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्"। इसके विषय में वाग्भट की राय है—

अत्र द्वयेषामिति न प्राप्नोति; द्वयानामिति भवति।

'द्वयेषां' को वे शब्दानुशासन-रहित समझते हैं। इसी तरह भारवि के—

गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या—

माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।

इस श्लोकार्द्ध के विषय में वे कहते हैं—"अत्र आजघ्ने इति आत्मनेपदं न प्राप्नोति"। मतलब यह कि भारवि ने ग़लती की। 'आजघ्ने' रूप व्याकरण से नहीं सिद्ध हो सकता।

छन्दोऽनुशासन के लक्षण से रहित वृत्त का उन्होंने यह उदाहरण दिया है—

कुरङ्गाक्षीणां गण्डतलफलके स्वेदविसरः

इस पर उनकी टीका है—

इति शिखरिणी—छन्दसि षष्ठे यतिर्या नियता सा नास्ति।

"कालिदास की निरंकुशता" में कालिदास-कृत यति-भङ्ग का जो उदाहरण हमने दिया है वह ठीक इसी तरह का है।

महाकवि दण्डी ने काव्यादर्श नाम का साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी एक ग्रन्थ बनाया है। उसमें उन्होंने भी यतिभ्रंश को दोष माना है। उदाहरण में उन्होंने—

स्त्रीणां सङ्गीतविधिमयमादित्यवंशो नरेन्द्रः

इत्यादि पद्य दिया है। यह मन्दाक्रान्ता वृत्त है। इस वृत्त के चौथे वर्ण पर यति होती है। परन्तु उदाहरण में चौथा वर्ण सङ्गीत शब्द का 'ङ्गी' है; और वह पदान्तर्गत है। इसलिए उसमें यतिभ्रंश दोष आ गया है। अतएव काव्यादर्श और काव्यानुशासन दोनों के दिये हुए उदाहरणों से कालिदास के पूर्वोक्त उदाहरण में यह दोष पाया जाता है।

कालिदास के (१) "स्रस्तां नितम्बादवलम्बमानां" (२) "मनीषिताः सन्ति गृहेऽपि देवताः" (३) "तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं" में वाग्भट ने जिन दोषों की उद्भावना की है उनका भी उल्लेख "कालिदास की निरंकुशता" में किया जा चुका है।

कालिदास के—"तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः" में हमने जो पुनरुक्तिदोष की भावना की है उससे वाग्भट भी सहमत हैं। उन्होंने इस पर साफ़ लिख दिया है—"अत्रेन्दुरिति पुनरुक्तम्"। इसके सिवा वाग्भट ने माघ, भारवि, मयूर, भट्टनारायण, भर्तृहरि आदि महाकवियों के भी कितने ही पद्यों में दोष दिखलाये हैं। परन्तु विस्तार-भय से हम उन्हें यहाँ पर नहीं लिखते।

श्रीहेमचन्द्राचार्य

जैन-धर्म्मावलम्बी महापण्डित हो गये हैं। उन्होंने न मालूम कितने ग्रन्थ बनाये हैं। प्रतिभा और विद्वत्ता में उनकी तुलना क्षेमेन्द्र से की जा सकती है। काव्यानुशासन नाम का एक

ग्रन्थ उनका भी है। वह वाग्भट के काव्यानुशासन से बड़ा है। उसमें उन्होंने भी कालिदास के कितने ही पद्यों को दूषित बतलाया है। इन पद्यों का उल्लेख "कालिदास की निरंकुशता" में, और, यहाँ, इस लेख में भी, ऊपर हो चुका है। अतएव उनके पुनरुल्लेख की ज़रूरत नहीं।

श्रीविश्वनाथ कविराज

का साहित्यदर्पण नामक अलङ्कार-शास्त्र-विषयक एक बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने रस-विशेष को बार-बार उद्दीप्त करना दोष माना है। उसका उदाहरण उन्होंने कालिदास-कृत कुमारसम्भव में वर्णन किया गया रति-विलाप ठहराया है।

जिस नायक का जैसा स्वभाव हो उसका वैसा वर्णन न करना प्रकृतिविपर्य्यय नामक दोष कहलाता है। इसके उदाहरण में ये लिखते हैं—

धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवत् छद्मना वालिवधः यथा वा कुमारसम्भवे पार्व्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगश्रृङ्गारवर्णनम्।

अब, देखिए, इनको भी कालिदास का हरगौरी-सम्बन्धी श्राङ्गारिक वर्णन दूषित जँचा है। किराताज्र्जुनीय में सुर-नारियों के विलासादि का जो वर्णन है उसे भी ये दूषित समझते हैं। इनकी राय है कि काव्याङ्ग का हद से अधिक विस्तृत वर्णन करना दोष में गिना जाता है। कर्पूरमञ्जरी और वेणीसंहार में भी इन्होंने दोष दिखलाये हैं। भवभूति के महावीरचरित में राम-भार्गव में जिस समय परस्पर संग्राम-सम्बन्धी

बातें हो रही थीं उस समय रामचन्द्र का यह कहना कि मैं कङ्कण खोलने के लिए भीतर जाता हूँ अकाण्डच्छेद नामक दोष से दूषित बतलाया गया है।

भारवि के 'आजन्ने' प्रयोग को इन्होंने भी ग़लत समझा है। इनका कहना है—

इह + + व्याकरणलक्षणहीनत्वात् च्युतसंस्कृतत्वम्।

कालिदास के—"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां" इत्यादि पद्य में इन्होंने भी भग्न-प्रक्रम-दोष बताया है।

माघ के शिशुपालवध में एक श्लोक है—

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका॥

इस पर विश्वनाथ का आक्षेप है कि 'अपरदिक्' शब्द हीं से गणिका का भाव सूचित हो जाता है। उस शब्द को स्पष्ट लिखने की आवश्यकता न थी। उसके लिखने से पुनरुक्तत्व दोष आ गया।

किरातार्ज्जुनीय के "यशोधिगन्तुं सुखलिप्सया वा" इत्यादि श्लोक में इनके अनुसार प्रक्रम-भङ्ग दोष और उसी काव्य के "सहसा विदधीत न क्रियां" में पुनरुक्ति-दोष है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य

ने ध्वनि-सम्बन्धी ध्वन्यालोक नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। उसमें उन्होंने भी प्राचीनों के दोष दिखलाये हैं।

को हुए अभी दो ही तीन सौ वर्ष हुए। उन्होंने तो रस-गङ्गाधर में जगह-जगह पर प्राचीनों की उक्तियों का विरोध किया है। उनकी और आनन्दवर्धन की राय है कि महाकवियों के काव्यों का तत्त्व केवल सहृदय और साहित्य-शास्त्र के ज्ञाता ही अच्छी तरह जान सकते हैं, दूसरे नहीं। जो लोग केवल व्याकरण जानते हैं, उनकी भी समझ में काव्यों का तत्त्व अच्छी तरह नहीं आ सकता। आनन्दवर्धन ने लिखा है—

> शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
> वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

अतएव काव्य-विषय में अभिज्ञों के सिवा औरों का जिह्वा-चापल्य करना अनधिकार-चर्चा है।

वैयाकरणों के द्वारा दिखाई गई महाकवियों की भूलें

पण्डित राजाराम शुक्ल संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। आपने हमारे पास एक लेख भेजा है। उसमें आपने महा-कवियों की व्याकरण-सम्बन्धिनी ऐसी कितनी ही भूलों की एक तालिका दी है जिनका उल्लेख वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों में किया है। खेद है, स्थल-सङ्कोच के कारण, हम आपके पूरे लेख को यहाँ नहीं दे सकते। परन्तु आपकी निर्दिष्ट त्रुटियों के कुछ नमूने हम नीचे देते हैं। इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि हमारे वैयाकरण विद्वानों ने व्यास और वाल्मीकि

तक की ख़बर ली है; कालिदास आदि की तो कुछ बात ही नहीं। पाणिनि के—

"पतिः समास एव"

इस सूत्र के अनुसार समास ही में 'पति' शब्द की 'घि' संज्ञा होती है और उसके रूप 'मुनि' शब्द के तुल्य होते हैं, अन्यत्र नहीं। परन्तु

"सीतायाः पतये नमः"

और—

"नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ"।

इन ऋषि-वचनों में, समास-रहित 'पति' शब्द के रूपों में, व्याकरण के नियम का उल्लङ्घन किया गया है। पहले उदाहरण में, 'पतये' की जगह 'पत्ये' और दूसरे में 'पतौ' की जगह 'पत्यौ' चाहिए।

व्यास ने महाभारत में लिखा है—

"कृष्णस्य सखिरर्जुनः"

और वाल्मीकि ने रामायण में लिखा है—

"सखिना वानरेन्द्रेण"

परन्तु इन दोनों उदाहरणों में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सखिः' और 'सखिना' ये दोनों रूप ग़लत हैं। उनकी जगह पर चाहिए—सखा और सख्या। "पतिः समास एव"—

इस सूत्र पर टीका करते समय, स्मृतियों और पुराणों में प्रयुक्त 'सखि' और 'पति' शब्द के अशुद्ध रूपों के विषय में, नागेश भट्ट ने लघुशब्देन्दुशेखर में लिखा है—

स्मृतिपुराणेषु पतये-सखिनेत्यादि व्याकरणानिष्पन्नत्वेनासाध्वेव। त्रिशंक्वाद्ययाज्ययाजनादाविव तपोमाहात्म्येनासाधुप्रयोगेऽपि ऋषीणां दोषाभावात्। याज्ञे कर्म्मण्येवासाधुप्रयोगो दोषाच्च। अस्माकमपि स्मृतिपुराणाद्यध्ययनविधिबलात् तेषां तपोबलाच्च यज्ञमध्ये तदन्तर्गत-तत्पाठे दोषाभावः। स्वातंत्र्येणेदृशं प्रयुञ्जाना अस्मदादयः प्रत्यवयन्त्येव। अतएव नदी-संज्ञा-सूत्रभाष्ये छन्दोवत् कवयः कुर्वन्तीत्युक्त्वा नह्येषेष्टि-रस्तीत्युक्तम्।

मतलब यह कि स्मृतियों और पुराणों में जो 'पतये' और 'सखिना' आदि प्रयोग हैं वे व्याकरण की दृष्टि से ज़रूर अशुद्ध हैं। परन्तु ऋषि तपस्वी होते हैं। अतएव तपोबल की महिमा के कारण अशुद्ध प्रयोग करने से भी उन्हें दोष नहीं स्पर्श करता। एक बात और भी है— अशुद्ध प्रयोग मुँह से निकालना केवल यज्ञकर्म में मना है, अन्यत्र नहीं। परन्तु हम लोग यदि ऐसे प्रयोग स्वतन्त्रता-पूर्वक करें तो ज़रूर दोषी ठहराये जा सकते हैं। इसी से नदी-संज्ञा-सूत्र पर भाष्य रचते समय पतञ्जलि ने साफ़ कह दिया है कि केवल वेद में आये हुए शब्दों या रूपों का जो कवि लौकिक ग्रन्थों में प्रयोग करते हैं वे अच्छा नहीं करते। ऐसा करना इष्ट नहीं।

पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि—इन तीनों आचार्यों के मत में 'क्वसु' प्रत्यय केवल वेद में होता है। परन्तु महाकवि कालिदास ने रघुवंश में—

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे

और—

श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते

लिखकर इन आचार्यों की राय में अनुचित काम किया है। क्योंकि 'तस्थिवांसं' और 'अधिजग्मुषः' में क्वसु प्रत्यय है और इस प्रत्यय का प्रयोग वेद के सिवा अन्यत्र मना है। इस विषय में तत्वबोधिनीकार ने लिखा है—

"गतानुगतिकतयेत्यर्थः"। अर्थात् कवियों ने शुद्धाशुद्ध का ख़याल न करके केवल गतानुगतिकता से प्रेरित होकर ऐसे प्रयोग किये हैं। मतलब यह कि यह एक प्रकार का भेड़ियाधसानपन है। एक को ऐसा प्रयोग लौकिक ग्रन्थों में करते देख दूसरे ने भी कर दिया है।

भट्टिकाव्य के कर्ता बड़े भारी वैयाकरण थे। परन्तु उन्होंने एक जगह—

हा पितः क्वासि हे सुभ्रु बह्वेवं विललाप सः।

लिख दिया है। यहाँ "इयङुवङ्स्थानावस्त्री"—इस सूत्र से, नदी-संज्ञा का निषेध होने से, 'सुभ्रु' की जगह 'सुभ्रूः' चाहिए। इस पर भट्टोजी दीक्षित ने राय दी है—"प्रमाद

एवायमिति बहव:"। अर्थात् बहुत लोग इसे ग़लत समझते हैं। इसी तरह माघकवि-कृत शिशुपालवध के—

जगत्प्रभोरप्रभविष्णु वैष्णवम्

में प्रयुक्त 'प्रभविष्णु:' पद को प्रामादिक समझकर दीक्षित महाशय ने लिखा है—"इति निरंकुशा: कवय:"। क्योंकि ऐसा प्रयोग वैदिक साहित्य ही में आता है, लौकिक साहित्य में नहीं।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे यह सिद्ध है कि बड़े-बड़े विद्वानों ने प्राचीन कवियों के दोष दिखलाना बुरा नहीं समझा। इस विवेचन से पाठकों को यह भी मालूम हो जायगा कि कालिदास की निरङ्कुशता नामक लेख में जिन दोषों का उल्लेख हुआ है उनमें से दो-चार को छोड़कर शेष सब दोषों को संस्कृत के साहित्य-शास्त्र-प्रणेताओं ने स्वीकार किया है। जो बातें इन महात्माओं ने पहले ही से लिख रक्खी हैं उन्हीं का निदर्शन कराना भी यदि हिन्दी में मना हो तो उसके साहित्य से समालोचना का बहिष्कार ही कर देना चाहिए।

[मई १९११

---

[३]

पश्चिमी देशों के विद्वान् भारतवर्ष के पण्डितों पर यह दोषारोपण करते हैं कि वे समालोचना करना नहीं जानते। गुण-दोष-परीक्षा करने की शक्ति ही उनमें नहीं। "Critical

faculty" से वे प्रायः ख़ाली हैं। जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रन्थों के दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं उनमें गुण-दोष-निर्णायक शक्ति, बतलाइए, कैसे उत्पन्न हो सकती है। ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। वाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किये बिना न रहा जाय तो प्राचीन ग्रन्थकारों के गुण ही गुण गावो। जब उन्हें सुनते-सुनते लोग ऊब जायँ तब दोष दिखाना। भाषा-विज्ञान और गुण-दोष-विवेचनात्मक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेंट भारतीय युवकों को विलायत और जर्मनी भेजे तो उसे भेजने दो। तुम क्यों नाहक़ पुराने पण्डितों के दोष दिखाकर व्यर्थ के लिए पातक मोल लेते हो? न सुनोगे तो तुम्हें वर्षों गालियाँ सुनावेंगे और तुम्हारे लेख ही की नहीं किन्तु तुम्हारी भी समालोचना करेंगे। जो लोग प्राचीनों की पुस्तकों की समालोचना के ख़िलाफ़ हैं वे, और, कतिपय हमारे अन्य मित्र भी ऐसी ही तर्कना करते हैं। परन्तु, समय की गति को रोकना किसी के हाथ में नहीं। उसका वेग ऐसा प्रबल है कि वह किसी के रोके नहीं रुकता। समालोचना इस देश में हज़ारों वर्ष से होती आई है, अब भी हो रही है और आगे इससे भी अधिक विस्तार से होगी।

प्राचीन पण्डितों के ग्रन्थों की दोष-विवेचक समालोचनाओं के नमूने पूर्व लेख में दिये जा चुके हैं। आधुनिक बङ्गाली

और महाराष्ट्र विद्वानों की आलोचनाओं की बानगी भी उसके पहले दिखाई जा चुकी है। उर्दू और गुजराती तथा तामिल और तैलङ्गी आदि भाषाओं में भी प्राचीन ग्रन्थों की गुण-दोष-दर्शक समालोचनायें हुई हैं और अब भी बराबर होती जा रही हैं। इस दशा में यह कहना कि हिन्दी में ऐसी आलोचनायें न हों, किसी प्रकार युक्ति-सङ्गत नहीं। ऐसी समालोचनायें पढ़ते समय कुछ लोगों को पहले चाहे भले ही झिझक मालूम पड़े, पर धीरे-धीरे उन्हें भी ऐसे लेखों को पढ़ने और उनसे लाभ उठाने की आदत पड़ जायगी। "कालिदास की निरङ्कुशता" पर कई प्रतिष्ठित विद्वानों की सम्मतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनसे पाठकों को विदित हो गया होगा कि प्राचीनों के दोष दिखाना बुरा नहीं। यदि हमने कालिदास के दोष कहीं दिखाये हैं तो कहीं उनके गुणों का प्रदर्शन भी किया है।

यदि समालोचक योग्य है और उसकी नीयत नेक है तो उसे समालोचना करने का पूरा अधिकार है। हाँ, जो लोग बदनीयती से समालोचना करते हैं वे ज़रूर समालोचक के पवित्र पद को कलङ्कित करते हैं।

आज हम इस देश के नहीं, किन्तु यूरोप के कुछ विद्वानों की समालोचनाओं से दो चार अवतरण देना चाहते हैं। ये सब विद्वान् संस्कृतज्ञ थे। इन्होंने हमारे प्राचीन कवियों के काव्यों की समालोचनायें की हैं। सम्भव है, इस काम में

उनसे भी भूलें हुई हों—और भूलें होतीं किससे नहीं ?—पर दिखलाना यह है कि जब अँगरेज़, जर्मन, बङ्गाली, मदरासी, गुजराती और महाराष्ट्र सभी ने प्राचीन भारतीय कवियों के काव्यों की समालोचनायें की हैं और उसका क्रम अब तक बराबर जारी है तब हिन्दी ने क्या अपराध किया है जो वह गुण-दोष-विवेचक समालोचन-साहित्य से वञ्चित रक्खी जाय। बात यह है कि जिनमें सारासार-विचार-शक्ति है वे कभी ऐसी समालोचनाओं का विरोध न करेंगे।

अच्छा, अब, भारतीय कवियों के काव्यों के सम्बन्ध में यूरोप के कुछ पण्डितों की सम्मतियाँ सुनिए। इन लोगों ने हमारे पुराने कवियों के दोष भी दिखलाये हैं और गुण भी। यहाँ पर हम उनकी समालोचनाओं के केवल वे अंश उद्धृत करेंगे जिनमें दोषों का उल्लेख है। क्योंकि हमें सिर्फ़ यही दिखलाना है कि हमने जो बात की है वह नई नहीं। इस देश के और विदेशों के भी अनेक विद्वानों ने हमारे प्राचीन कवियों के दोष दिखलाये हैं।

(१)

मुग्धानलाचार्य (Prof A. A. Macdonell) आक्सफ़र्ड में संस्कृत के प्रधान अध्यापक थे। उन्होंने संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा है। इस इतिहास में उन्होंने कई स्थलों पर संस्कृत-ग्रन्थों की प्रतिकूल आलोचना की है। ख़ास कालिदास के नाटकों के विषय में एक जगह वे लिखते हैं—

"इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास के ग्रन्थों में जो सबसे अच्छे नाटक हैं उनका अभिनय दोष-रहित नहीं—नाट्यशाला में उनका निर्दोष अभिनय नहीं हो सकता। इस कवि की कल्पनायें इतनी नाज़ुक हैं और उनमें निष्क्रियता का अंश इतना अधिक है कि देखनेवालों के चित्त पर विशेष असर डालने की शक्ति उनमें नहीं + + + + शकुन्तला और विक्रमोर्वशीय में ऐसे दृश्य हैं जो वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़े हैं। इन दृश्यों में ज़मीन और आसमान एक कर दिये गये हैं; और मनुष्य, अर्धदेवता, अप्सरायें और तपस्वी, सबका मिश्रण कर डाला गया है।"

यह दोषारोपण चाहे अलीक और निर्मूल ही क्यों न हो; परन्तु मुग्धानलाचार्य की पूर्वोक्त पुस्तक में वह वर्षों से लिखा हुआ विद्यमान है।

(२)

जर्मनी के वेबर साहब ने भी भारत के साहित्य का इतिहास लिखा है। अपने देश के विद्वान् वेबर साहब की समालोचना का बहुत सा अंश अनुचित और पक्षपातपूर्ण बतलाते हैं। परन्तु कुछ लोगों की सम्मति है कि वेबर साहब ने बुद्धि-पुरस्सर अनुचित आक्षेप नहीं किये। क्योंकि, कहीं-कहीं पर, उनकी समालोचना ऐसी है जिसे कोई भी पक्षपात-हीन मनुष्य मान लेने में आनाकानी नहीं कर सकता। संस्कृत के शृङ्गार-रस-प्रधान कुछ काव्यों के विषय में वेबर साहब की राय है—

"साधारणतः इस शृङ्गार-रस-प्रधान कविता में निरङ्कुशता और उत्कट विषयासक्ति-प्रवर्तक वर्णनों की बड़ी ही भरमार है।"

पीछे से बने हुए काव्यों के विषय में वेवर साहब कहते हैं—

"इस प्रकार के काव्यों में क्रम-क्रम से वीररसात्मकता से सम्बन्ध छूटता गया है और अच्छे-अच्छे शब्दों में शृङ्गार-रसात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई है। परन्तु, कुछ दिनों में, धीरे धीरे, भाषा ने अपनी सरलता को छोड़कर बड़े-बड़े शब्दों और समासों का आश्रय लिया है! अन्त में, यहाँ तक नौबत पहुँची है कि नवीन बने हुए सारे काव्य कृत्रिम शब्दाडम्बर मात्र में परिणत हो गये हैं। कविता का मुख्य उद्देश्य बाह्य शोभा, टेढ़ी-मेढ़ी अलङ्कार और श्लेष-योजना, शब्द-विन्यास-चातुर्य इत्यादि समझा जाने लगा है। काव्य का विषय गौण हो गया है; कवि लोग उसका उपयोग इतने ही के लिए करने लगे हैं जिसमें उसके बहाने अपने भाषा-प्रयोग-चातुर्य को प्रकट करने का अवसर हाथ लगे।"

(३)

डाक्टर रोयर संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। श्रीहर्ष के नैषधचरित पर उनकी राय एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की ग्यारहवीं जिल्द के प्रथम भाग में छपी है। उसका आशय यह है—

"जिस प्रकार के प्रेमातिशय का वर्णन कवि ने किया है वह लौकिक है—कामुकों का ऐसा है। यहाँ तक कि वह

किसी-किसी रोमन कवि के विषय-सम्भूत प्रेम से भी बढ़ गया है। अश्लीलता सब कहीं विद्यमान है और स्त्रियों तक के चित्त को विचलित करती है। यह बात दमयन्ती की सखियों की उक्ति से स्पष्ट है। नल और दमयन्ती का भी प्रेम बहुधा विषयासक्ति तक पहुँच जाता है, और, अनेक स्थलों में, काम-शास्त्र में वर्णन की गई बातों का क्रिया-सिद्ध उदाहरण कहा जा सकता है।"

(४)

एडिनबर्ग-विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक, डाक्टर जूलियस एग्लिङ्ग, पी-एच० डी०, का लिखा हुआ, संस्कृत-साहित्य-विषयक, एक विस्तृत लेख एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में है। उसमें प्रोफ़ेसर महाशय संस्कृत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध काव्यों के विषय में लिखते हैं—

"समष्टि रूप से इन काव्यों में नई घटनाओं और बिलकुल ही नये विषयों की बड़ी कमी है। इनके प्रायः सभी वर्णन-विषय रामायण और महाभारत से लिये गये हैं। तथापि यह बात नहीं कि योग्यतादर्शक और आनन्दोत्पादक सामग्री से ये सर्वथा ख़ाली हों। इनमें से कई काव्य ऐसे हैं जिनमें विषय-वर्णन-वैचित्र्य और कवि-जनोचित मनोहर भावों और कल्पनाओं का बहुत कुछ विकास देखा जाता है। तिस पर भी, दुःख से कहना पड़ता है, इनकी भाषा कुछ ऐसी है जिसने इनके महत्व को आधे से भी अधिक कम कर दिया है।"

कालिदास के कुमारसम्भव के आठवें सर्ग के विषय में इनकी राय है कि उसमें जो हर-गौरी का सम्भोग-शृङ्गार-वर्णन है उसी से वह बहुत करके हस्तलिखित पुस्तकों में छोड़ दिया जाता रहा है।

नैषधचरित के विषय में इनकी राय का आशय यह है—

"जो कथा महाभारत में थोड़े में कही गई है वही यहाँ बेतरह बढ़ाकर, ख़ूब ही परिष्कृत पद्यों में, वर्णन की गई है। कवि के नैषधचरित-गत कामासक्ति-सूचक वर्णन में उस समय की सामाजिक भ्रष्टता की बड़ी ही भयावनी मूर्ति देखने को मिलती है। सम्भव है, यह बात कवि की अत्यधिक कल्पना-शक्ति के विजृम्भण का फल हो।"

इन अवतरणों से किसी को यह न समझना चाहिए कि इन विद्वानों की यह दोषोद्भाविनी आलोचना द्वेषमूलक है। अपने देश के कवियों की भी इन्होंने समालोचना की है, और किसी-किसी ने बड़े ही कड़े शब्दों में की है। विलायती कवियों में शेक्सपियर का आसन सबसे ऊँचा है। उसकी पुस्तकों की संख्यातीत समालोचनायें हुई हैं। उनमें इस महा-कवि के दोष भी दिखलाये गये हैं। विलायत के सेंट-आँड्रू ज़-विश्वविद्यालय के अध्यापक टी॰ स्पेन्सर बेन्स, एल-एल॰ डी॰ ने तो यहाँ तक लिखा है कि शेक्सपियर ने अपने जन्मस्थान स्ट्रटफ़र्ड में, सर टामस लूसी के बाग़ में, चोरी की थी—एक हिरन चुराया था। इस कारण उसे बहुत मुसीबतें झेलनी

पड़ीं और अन्त में लाचार होकर उसे वहाँ से भागना तक पड़ा। यह घटना झूठ हो या सच, पर लेखकों ने उसका उल्लेख करना अनुचित नहीं समझा। शेक्सपियर के विषय में उसके समालोचकों ने यह भी कहा है कि उसने अपने नाटकों में इटालियन भाषा के नाटकों का कथानक और घटनायें ही नहीं चुरा लीं, किन्तु कहीं-कहीं पर उसने इस भाषा के नाटकों के नाटकीय पात्रों के नाम तक ज्यों के त्यों अपनी पुस्तकों में रख दिये हैं। शेक्सपियर के रोमियो और जूलियट के विषय में अध्यापक वेन्स की राय है कि वह पूर्णतया इटालियन है। उसकी सभी बातें इटली की हैं, इँगलेंड की नहीं। शेक्सपियर ने इटली के नाटक-ग्रन्थों को सामने रखकर, या उनका यथेष्ट परिशीलन करके, अपनी कई पुस्तकें लिखी हैं। यदि वह ऐसा न करता तो इटली की सामाजिक दशा आदि का वैसा चित्र उसके नाटकों में देखने को न मिलता।

एमरसन ने कवि श्यली के विषय में लिखा है—

"I cannot read Shelly with comfort. His visions are not in accord with the facts; they are not accurate."

अर्थात्—श्यली की कविता से मुझे आनन्द नहीं मिलता। उसकी कल्पनायें वर्णन की गई यथार्थ घटनाओं से नहीं मिलतीं। वे ठीक नहीं। उसकी कल्पनाओं और वर्ण्यमान बातों में अनुरूपता नहीं।

जे० ए० सिमंज़ नाम का एक प्रसिद्ध कवि, समालोचक और इतिहासकार हो गया है। उसे मरे अभी कोई चौदह ही वर्ष हुए। महाकवि वाइरन पर उसके दोषारोप सुनिए—

"Byron, it may be said at once, was destitute of critical insight. Therefore, not only are the judgments of English Bards and Scotch Reviewers worthless, but his maturest works are marred by strictures on contemporaries which now appear ridiculous."

इसका भावार्थ है—यह बात, विना ज़रा भी सोच-विचार के, सहसा, कही जा सकती है कि गुण-दोष-विवेचना करने की शक्ति वाइरन में बिलकुल ही न थी। अतएव अपने "अँगरेज़ कवि और स्काटलैंड के समालोचक" ग्रन्थ में जो सम्मतियाँ उसने प्रकाशित की हैं वे कौड़ी काम की नहीं। इतना ही नहीं, अपने समय के लेखकों पर उसने जो आक्षेप किये हैं उनसे उसके प्रौढ़ से प्रौढ़ ग्रन्थों का भी महत्त्व कम हो गया है। उसके वे आक्षेप, इस समय, उपहासास्पद मालूम होते हैं।

विलायत में एस० टी० कोलरिज नामक एक कवि था। १७७२ ईसवी में वह उत्पन्न हुआ और १८३४ में मरा। कवि होने के सिवा वह बहुत अच्छा समालोचक भी था। उसने महाकवि वर्डस्वर्थ के काव्यों की समालोचना में न मालूम कितनी दोषोद्भावनायें की हैं। कहीं पर आपने वर्डस्वर्थ के

"Mental Bombast" (गर्वसूचक, पर, निःस्सार मानसिक भाव) की निन्दा की है; कहीं पर उसके "Inconstancy of the style" (रचना-रीति के विषमत्व) पर कटाक्ष किया है; कहीं पर उसके "Faulty and Eqvivocal syntax" (दूषित और सन्दिग्ध पद-समुदाय) के लिए भला-बुरा कहा है। कहीं कहीं पर तो उसने इस महाकवि की बहुत ही बुरी तरह ख़बर ली है। एक छः वर्ष के लड़के पर बाइरन की लिखी हुई एक कविता है। उसमें बाइरन ने लड़के की उपमा तत्त्ववेत्ता से दी है। इस पर इस समालोचक ने बाइरन को बेतरह फटकारा है।

इस, और इसके पहले के लेखों से, पाठकों को यह बात अच्छी तरह विदित हो गई होगी कि प्राचीन कवियों की समालोचंना करना और नेकनीयती से उसमें यथार्थ दोषों को दिखाना, बुरा नहीं। इस तरह की समालोचना से कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है।

[जून १९११

२—महिष-शतक

हमारे "वलीवर्द" और "गर्दभकाव्य" को देखकर कई लोगों ने अप्रसन्नता प्रकट की है। इस प्रकार की कविता लिखना उनके मन में वाणी का असत् प्रयोग करना है। कविता का मुख्य उद्देश मनोरञ्जन और प्रमोद-दान है। चाहे जिस विषय की रचना हो, यदि उससे चित्त चमत्कृत और हृदय प्रफुल्लित हुआ तो यह समझ लेना चाहिए कि परिश्रम सफल हो गया। हय-गजादि का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। शिशुपालवध में माघ ने ऊँटों तक का वर्णन किया है। इस प्रकार की कविता को हम दूषित नहीं समझते। जिस कविता पर, आज, हम यह निबन्ध लिख रहे हैं उस कविता ने आज तक बनी हुई पशु-वर्णनात्मक सारी कविताओं को मात कर दिया है। उसका नाम "महिष-शतक" अथवा "माहिष-शतक" है। इसमें भैंसे की स्तुति है।

"महिष-शतक" के कर्त्ता वाल नामक एक महाविद्वान् थे। महाविद्वान् हम उनको इसलिए कहते हैं, क्योंकि उनकी कविता में उनकी अलौकिक विद्वत्ता का साक्ष्य, प्रायः प्रति पद्य में, मिलता है। दो-दो अर्थवाले अनेक श्लोक लिखकर उन्होंने भैंसे को कवि, तार्किक, वैयाकरण, मीमांसक, योगिराज, भूपाल, दिक्पाल, मुनि, गृहस्थ, देवता, दैत्य, समुद्र, पर्वत,

रामायण, महाभारत, आदि सभी कुछ सिद्ध किया है! यहाँ तक कि भैंसे में परब्रह्म का भी आरोप किया है! इस प्रकार का व्यापार अप्रतिम प्रतिभा और असामान्य विद्वत्ता के विना सर्वथा असाध्य है। वाल-कवि ने "महिष-शतक" लिखकर काव्यप्रकाश-कर्ता की "नियतिकृतनियमरहितां" इस उक्ति की यथार्थता प्रमाणित कर दी है।

कवियों को ईश्वर-कृत नियमों का बन्धन नहीं होता। वे अपनी स्वतन्त्र ही सृष्टि की रचना किया करते हैं। नाल और पत्तों के विना कमल नहीं होता; और जब होता है तब जल ही में होता है। इस प्राकृतिक नियम की ओर कवि-जन दृक्पात तक नहीं करते। उनका कमल कामिनियों का कोमल मुख है; चन्द्रमा को कविजन चन्द्रमा ही नहीं कहते; वे कहते हैं कि आकाश-गङ्गा में खिला हुआ वह एक वृहदाकार सरोरुह है! वाल-कवि भी भैंसे को भैंसा नहीं कहते; वे उसे सर्वदेवमय, ईश्वरावतार, सर्वशास्त्र-पारङ्गत, राजाओं का भी राजा मानते हैं! कवियों की स्वतन्त्रता का यहाँ अन्त है। इस प्रकार की भी विलक्षण कविताएँ जब संस्कृत में विद्यमान हैं, तब, कारण-वश, यदि हम "वलीवर्द" सदृश पद्य लिख डालें तो कोई आश्चर्य्य नहीं। इस संसार में जितने काव्य आज तक हुए हैं उन सबको उन-उन कवियों के अन्तःकरण के व्यक्त स्वरूप किंवा चित्त समझना चाहिए। इन कविता-चित्रों के भाव और कौशल को देखकर उनके निर्माता कवियों की स्थिति,

विचार, अन्तरङ्ग रहस्य और काव्य करने के कारण आदि का बहुत कुछ पता लग जाता है और उनके अन्तःकरण से अपने अन्तःकरण का समीकरण करने से उन्हीं के जैसे विकारों का तत्क्षण अनुभव होने लगता है। बाल-कवि को चोल-देश के राजा के अधिकारियों ने बहुत पीड़ित किया था। उन पर कवि ने वाक्यरूपी तीक्ष्ण-बाण-वर्षा की है। कवि की खेदोक्तियों को सुनकर उसके साथ सहानुभूति और चोल-राज तथा उसके अधिकारियों पर घृणा हुए बिना नहीं रहती।

बाल-कवि कब हुए और कब उन्होंने "महिष-शतक" बनाया, यह उन्होंने नहीं लिखा। शतक का दूसरा श्लोक यह है—

ये जाता विमलेऽत्र भोसलकुले सूर्येन्दुवंशोपमे
राजानश्चिरजीविनश्च सुखिनस्ते सन्तु सन्तानिनः।
ये तद्वंशपरम्पराक्रमवशात् सभ्याः समभ्यागता-
स्ते सन्तु प्रथमानमानविभवा राज्ञां कटाक्षोर्म्मिभिः॥

अर्थात् चन्द्र और सूर्य-वंश के समान विमल भोंसल वंश में जो नरेश उत्पन्न हुए हैं वे आयुष्मान्, सन्ततिमान् और सुखी रहें। वंश-परम्पराक्रम से जो उनकी सभा के सभ्य हैं उन पर राजाओं की कृपा बनी रहे और उनका मान तथा वैभव सदैव बढ़ता रहे।

ग्रन्थ के अन्त में भी कवि ने भोंसल नरेश को आशीर्वचन कहे हैं। इससे विदित होता है कि जिस समय नागपुर में भोंसलों का राज्य था उसी समय बाल-कवि विद्यमान थे।

"महिष-शतक" की सुबोधिनी नामक एक टीका है। उसे श्रीनिवास पण्डित ने, शक १७८६ की वैशाख-कृष्ण षष्ठी को, समाप्त किया था। यह उन्होंने अपनी टीका के अन्त में लिखा है। इस टीका को बने अभी कुछ ही समय हुआ। यद्यपि यह बहुत आधुनिक है, तथापि इसकी प्रत्येक पंक्ति से लिखने-वाले का पाण्डित्य झलकता है। इसी टीकाकार ने लक्ष्मी-सहस्र, भारतचम्पू और भैष्मीपरिणय-चम्पू की भी टीकायें में लिखी हैं। श्रीनिवास के पिता का नाम कृष्ण, पितामह का रामचन्द्र और प्रपितामह का सिद्धेश्वर योगिराज था, यह भी इन्होंने टीका में लिखा है। अपने विषय में वे यह लिखते हैं—

तत्सुतः श्रीनिवासोऽहं रामपादाब्जषट्पदः ।
साहित्यशास्त्रनिष्णातो वेदवेदाङ्गपारगः ॥

इससे सिद्ध होता है कि वे रामोपासक थे। वे अपने ही मुख से अपने को साहित्य में निष्णात और वेदवेदाङ्गपारङ्गत कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे परम पण्डित थे। उनकी बनाई हुई टीकायें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उनके प्रपि-तामह कोल्हापुर में रहते थे और शिव छत्रपति के गुरु थे। श्रीनिवास पण्डित के लिए, यहाँ पर, यद्यपि हमने भूतकाल का प्रयोग किया है, तथापि हमको यह विदित नहीं कि वे इस समय जीवित हैं अथवा नहीं। यह भी हमको विदित नहीं कि किस नगर में उन्होंने यह टीका लिखी। टीका समाप्त होने के एक ही महीने के अनन्तर "महिष-शतक" पूना के

"जगद्धितेच्छु" यन्त्रालय से निकला है, जिससे यह सूचित होता है कि उस समय श्रीनिवास पण्डित, पूना ही में, अथवा वहीं कहीं, उसी के आस-पास, थे। "महिष-शतक" के विषय में जो आख्यायिका हम सुनते आये हैं उसकी पुष्टि श्रीनिवास पण्डित ने अपनी टीका की भूमिका में की है। उसका संक्षिप्त सार हम नीचे देते हैं।

भोंसलों की राजधानी नागपुर में एक श्रोत्रिय ब्राह्मण का बालक बाल-कवि-नामा था। वह बाल-कवि यथार्थ ही बाल-कवि था। सोलह ही वर्ष के वय में वह अनेक-विद्या-विशारद हो गया था। एक बार चोल-देशान्तर्गत श्रीरङ्गपत्तन का राजा नागपुर आया। वहाँ भोंसला राजा की सभा में बाल-कवि की चातुरी और विद्या देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और भोंसला-धीश से बाल-कवि को अपने साथ ले जाने की इच्छा उसने प्रकट की। नागपुर के राजा ने उसकी इच्छा पूर्ण की। चोला-धिप बाल-कवि को अपनी राजधानी में लाये। वहाँ अपनी सभा में, अपने नगर के समस्त विद्वानों को बुलाकर, बाल-कवि के साथ राजा ने शास्त्रार्थ कराया। शास्त्रार्थ में बाल-कवि की जीत हुई। तब से बाल-कवि चोल-नरेश के यहाँ तक प्रेमपात्र हुए कि राज-मन्त्रियों तक को वे तृणप्राय समझने लगे। यह बात मन्त्रि-मण्डल और उन परास्त हुए पण्डितों को बहुत बुरी लगी। उन लोगों ने परामर्श करके, एक दिन राजा को एकान्त में पाकर, बाल-कवि के प्रतिकूल अनेक बातें कहकर,

राजा का चित्त कवि की ओर कलुषित कर दिया। उन्होंने यहाँ तक बातें बनाईं कि यह कवि आपको मारकर आपका सिंहासन छीन लेना चाहता है। राजा ने इस जाल को सत्य समझकर वाल-कवि को अपनी राजधानी से निकाल दिया। निकाले जाने पर वाल-कवि ने जीविका के लिए ऐसी वृत्ति ग्रहण करनी चाही जिसमें श्रीमान् राजमन्त्री और विद्वान् पण्डित दोनों को उनसे द्वेष रखने का अवसर न मिले। उन्होंने कृषक-वृत्ति अवलम्बन करने का निश्चय किया और भैंसे मोल लेकर वे कृषि करने लगे। कृषि से बहुत अन्न हुआ। यह समाचार जब उनके शत्रुओं को मिला तब उन्होंने वह सब धान्य हरण कर लिया। इस पर वाल-कवि बहुत कुपित हुए; परन्तु उन लोगों को और कोई दण्ड न दे सकने के कारण भैंसे की स्तुति के मिष उन्होंने उनको भैंसे से भी भद्दा बना दिया।

"महिष-शतक" के निर्म्माण का यही कारण है। चोल-देश के राजा और उसके अधिकारी सूबेदारों को वाल-कवि ने जो धिक्कारा है उससे, तथा अपने धन-धान्य आदि के लुट जाने के विषय में "महिष-शतक" में जो उन्होंने उल्लेख किया है उससे भी, इस आख्यायिका की सत्यता प्रमाणित होती है।

यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि जब चोलेश्वर ने वाल-कवि का अनादर किया तब वे अपने पूर्वाश्रयदाता भोंसला नरेश के यहाँ क्यों न चले गये? खेती क्यों करने लगे? इसका कारण या तो यह होगा कि अनादृत होकर श्रीरङ्गपत्तन से

नागपुर लौट जाना उन्होंने लज्जाजनक माना; या वहीं उनको चोल-नरेश ने पहले कुछ भूमि दे रक्खी होगी, जिसे छोड़ लौट जाना अनुचित समझकर, अपनी ही भूमि में वे कृषि करने लगे। क्या आश्चर्य है जो राजा के अधिकारियों से दुःखित होकर पीछे से वे नागपुर चले भी गये हों।

दूसरे पेशवा बाजीराव के समय में, अर्थात् १७४० ईसवी के लगभग, भोंसलों का आधिपत्य नागपुर में हुआ और १८५३ ईसवी तक बना रहा। १८५३ ईसवी में नागपुर अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया गया। अतः १७४० ईसवी के अनन्तर और १८५३ ईसवी के पहले बाल-कवि का होना सिद्ध है। परन्तु श्रीरङ्गपत्तन पर हैदरअली और टीपू का प्रभुत्व १७९९ ईसवी तक था। इसलिए १७४० और १७९९ ईसवी के मध्य में बाल-कवि का चोल-देश को जाना अनुमान करना अनुचित है। हैदर और टीपू के सदृश अकृतविद्य, कट्टर और मराठों के महाशत्रु के यहाँ उनका रहना नितान्त असम्भव है। टीपू के अनन्तर श्रीरङ्गपत्तन का सिंहासन कृष्णराज को प्राप्त हुआ था। इस राजा का राज्य-प्रबन्ध अच्छा न था। इसके समय में इसके कर्म्मचारियों ही का विशेष प्रावल्य था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसी के यहाँ बाल-कवि रहे होंगे और इसी के सूबेदारों ने उन्हें सताया होगा।

"महिष-शतक" के छठे पद्य में बाल-कवि कहते हैं—

नानाजीप्रभुचन्द्रभानुसहजीन्द्रानन्दरायादयो
विद्वांसः प्रभवो गताः श्रितसुधासन्दोहजीवातवः।

विद्यायां विपद्बुद्धयो हि वृषलाः सभ्यास्त्विदानीन्तनाः
किं कुर्वेऽम्ब ! कृपे ! व्रजामि शरणं त्वामेव विश्वावनीम् ॥

अर्थात् सुधा के समान जीवन के ओषधि-रूप नानाजी, चन्द्रभानु शाह, आनन्दराय आदिक विद्वान् प्रभु अब नहीं रहे। आजकल के दुःशील अधिकारी ऐसे हैं जो विद्या में विष की भावना करते हैं। सारे संसार की पालनकर्त्री हे माँ कृपे! इसलिए हम तेरी शरण आये हैं। करें क्या?

इस श्लोक में उल्लिखित नानाजी, पेशवाओं के प्रसिद्ध प्रधान, नाना फड़नवीस, जान पड़ते हैं। वे बड़े ही गुणग्राही थे। १७९७ ईसवी वे में अहमदनगर में क़ैद किये गये और १७९९ ईसवी में मरे। नन्दिराय अथवा नन्दिराज नामक मैसूर के राजा का एक प्रधान था। उसी के हाथ से हैदरअली ने राज्यसूत्र छीना था। बाल-कवि का आनन्दराय सम्भवतः यही होगा। १७६१ ईसवी में वह अधिकारच्युत हुआ था। इन दोनों पुरुषों के लोकान्तरित होने पर कवि ने "महिष-शतक" बनाया है, क्योंकि ऊपर दिये गये श्लोक में यह स्पष्ट लिखा है कि ये लोग अब नहीं रहे। अतएव यह निर्भ्रान्त है कि बाल-कवि ने इस शतक की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में की है; अर्थात् उनको हुए अभी सौ वर्ष भी नहीं हुए।

"महिष-शतक" के अठारहवें श्लोक में श्रीधर और अम्बु-दीक्षित और उन्नीसवें में कुट्टि-नामक कवियों के नाम आये हैं। वहाँ के वर्णन-क्रम से, इन कवियों की, बाल-कवि के समय,

विद्यमानता द्योतित होती है। परन्तु ये तीनों कवि कहाँ हुए और कहाँ रहे, इसका पता नहीं। श्रीधर से श्रीमद्भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामी से शायद अभिप्राय हो। ७४ वें श्लोक में भैंसे की समता कवि ने चन्दा ख़ाँ से की है। परन्तु इस चन्दा ख़ाँ की भी कोई वार्ता विदित नहीं।

वाल-कवि वहुत अर्वाचीन हैं; परन्तु उनकी कविता में अर्वाचीनता का चिह्न नहीं। उनकी कविता प्राचीनों की जैसी वहुत ही सरस और सरल है। "महिष-शतक" में उन्होंने अपने पाण्डित्य की पराकाष्ठा दिखलाई है। ३० से लेकर ८५ श्लोक तक जो कुछ उन्होंने कहा है सव दो-दो अर्थों से गर्भित है। भैंसे-जैसे निन्द्य पशु में दैत्य, देवता, तपस्वी, गृहस्थ, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि सभी का तादात्म्य दिखला देना अलौकिक प्रतिभा का परिचायक है।

इस शतक में १०७ पद्य, शार्दूलविक्रीड़ित वृत्त में, हैं। पहले के १४ पद्यों में भूमिका-स्वरूप काव्य के कारण इत्यादि का वर्णन है। १५ से २६ तक और ८६ से १०५ श्लोक तक भैंसे की सामान्य प्रशंसा और राजाओं तथा आश्रित अधिकारियों की निन्दा है। १०६ में भोंसलों को आशीष और १०७ में ग्रन्थ-समाप्ति स्वनाम-निर्देश आदि है। बीच के ३० से ८५ श्लोक पर्य्यन्त जो कुछ है विलक्षण है। जिस भैंसे को कानपुर की सड़कों पर गाड़ी खींचते देख करुणा आती है वह वहाँ रावण के समान गम्भीर गर्जन कर रहा है; कर्ण के समान

दान दे रहा है; अर्जुन के समान बाण चला रहा है; इन्द्र के समान सिंहासनासीन होकर सुख भोग कर रहा है; और मुनियों के समान ध्यान में निमग्न हो रहा है! कभी वह मीमांसक बनता है, कभी तार्किक, कभी वैयाकरण, कभी वेदपाठी, कभी ज्योतिर्विद् और कभी कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी महाकवि!! हमारे महिषासुर के पुण्यवान् पुत्र किस श्लोक में किसकी समता धारण कर रहे हैं, यह हम सविस्तर लिखते हैं देखिए—

श्लोकाङ्क	जिससे समता की गई है उसका नाम	श्लोकाङ्क	जिससे समता की गई है उसका नाम
३०, ३१, ३२	राजा	४४	समुद्र
३३	बालक	४५	हनुमान्
३४	दुष्टों के दण्डदाता	४६	कार्तवीर्यार्जुन
३५	यजुर्वेदाध्यायी	४७	सुकवि
३६	मध्वाचार्य	४८	सत्कवि-कृत प्रबन्ध
३७	रामानुज	४९	रसिक
३८	महायोगीश्वर	५०	विट
३९	दीक्षित	५१	भरताचार्य्य
४०	परब्रह्म	५२	मत्स्यावतार
४१	इन्द्र	५३	कूर्म्मावतार
४२	मन्मथ	५४	वराह
४३	शालग्राम	५५	नृसिंह

श्लोकाङ्क	जिससे समता की गई है उसका नाम	श्लोकाङ्क	जिससे समता की गई है उसका नाम
५६	वामन	७१	वालि
५७	परशुराम	७२	लङ्का
५८	राम	७३	रावण
५९	वलराम	७४	चन्दाख़ाँ
६०	कृष्ण	७५	महावैयाकरण
६१	बौद्ध	७६	तार्किक
६२	कल्की	७७	मीमांसक
६३	शङ्कर	७८	ग्रन्थ-रूप
६४	पर्वत	७९	नवरस-रूप
६५	अनेक प्राचीन राजाओं का समूह	८०	अष्टदिक्पाल
		८१	सुवर्ण
६६	अर्जुन	८२	मुनि
६७	कर्ण	८३	रोगी होकर दृढ़ाङ्गधारी
६८	भारत की कथा	८४	गृहस्थ
६९	द्रोण	८५	महिषासुर
७०	कपिशताकार		

भैंसे ! तू बड़ा भाग्यशाली है !

ग्रन्थारम्भ में वाल-कवि कहते हैं—

"समस्त संसार का कल्याण हो; मनस्ताप से सन्तप्त सज्जन सुखी रहें; राजा लोग सुपथ पर चलें; उनके धर्म्मिष्ठ मन्त्री दीर्घायु

हों! भोंसल-वंश के भूपाल चिरजीवी हों और उनकी सभा के सभ्यों का मान बढ़े। अधर्म्म से धन-धान्य-सम्पादन करनेवाले और राजा के समीप-स्थित लोगों को उत्कोच (रिश्वत) द्वारा वश करके प्रजा का सर्वस्व हरनेवाले अधिकारी यमालय को जायँ! इस चोल देश में जीविका का और कोई मार्ग न देखकर जिन द्विजोत्तमों को महानुचित कृषि करनी पड़ी, उनको भी जो दुराचारी जन दुर्वचन कहते हैं उनका मुख कृमियों का निवास-स्थान हो! वेद में लिखा है कि कृषि से दुर्भिक्ष नहीं होता और आपत्ति में मनु ने भी कृषि करना दोषरहित माना है। इसी से हमने इस समय कृषि का आश्रय लिया है। ईश्वर हमारी सहायता करे! कृषि का आश्रय न लें तो करें क्या? आजकल के राजा तो केवल द्रव्य हरण करना जानते हैं, और कुछ नहीं।"

"मधु से भी मीठी उक्तियों से इन लक्ष्मी-लोलुप राजाओं की स्तुति करते-करते जब हम थक गये तब हमने वैश्य-वृत्ति का आश्रय लिया और शत निष्क व्यय करने पर महिष नाम के प्रभु तक हमारी पहुँच हुई। इस नये प्रभु ने हमारी सम्यक् प्रकार से रक्षा की; अतः आज हम इसकी सहर्ष स्तुति करते हैं। जो जिसकी रक्षा करता है, वही उसका प्रभु है। इस श्रीमान् महिष ने हमारी स्पष्ट रक्षा की है। इसलिए इसकी स्तुति करके हम अपनी वाणी को सफल करना चाहते हैं। हमें पीड़ा पहुँचानेवाले और हमारी महिमा को न जाननेवाले पुरुषों

की जो हमने निन्दा की है उसे सुनकर गुणग्राही राजा प्रसन्न होवें। भाग्यवानों के यहाँ अनादृत होकर कृपि द्वारा जो कुछ हमने सम्पादन किया था उसे लूट ले जानेवाले सूबेदारों की, अधम भैंसे की स्तुति के मिष, जो हमने निन्दा की है और उनको जो वाग्दण्ड दिया है उसके लिए कवियों को निरङ्कुश माननेवाले विद्वान् हमें क्षमा करें।"

यह "महिष-शतक" की भूमिका है। इससे यह विदित होता है कि उस समय मैसूर की राज्य-व्यवस्था बहुत ही बिगड़ गई थी। किसी का धन और जीवन सुरक्षित न था।

श्रीमान् महिष-महीप की अब कुछ महिमा सुनिए—

स्तोतुं त्वां महिपाधिराज सुगुणं दीदांसते धीर्मम
त्वञ्च स्तुत्यतया प्रबन्धवचसां योग्योऽसि किन्त्वन्वहम्।
वित्तोन्मत्तनरेन्द्रदुर्गुणघटामिथ्यास्तवोपक्रमै-
र्वाग्भिः पर्युषिताभिरद्य भवतः कुर्वे नुतिं क्षम्यताम्॥

भावार्थ—हे महिषाधिराज! हम आपकी स्तुति तो करना चाहते हैं; परन्तु सर्व-गुण-सम्पन्न आप बड़े बड़े ग्रन्थों में नई नई उक्तियों द्वारा वर्णन किये जाने योग्य हैं। धनोन्मत्त राजाओं की दुर्गुण-घटाओं का प्रतिदिन मिथ्या स्तवन करने-वाली अपनी उच्छिष्ट वाणी से हम आज आपकी स्तुति करते हैं। हमारा अपराध क्षमा हो।

अष्टास्वभ्रमुवल्लभादिषु भवानेकस्त्वमत्रागतः
किं वा जङ्गमतां गतः कुलगिरिष्वेकस्त्वमस्युन्नतः।

आहोस्विन्महिषासुरस्त्वमधुना हन्तावतीर्णः पुन-

र्ब्रूहि श्रीमहिषेन्द्र विस्मयकरं स्मेरं मदीयं मनः ॥

भावार्थ—आठ दिग्गजों में से क्या आप एक दिग्गज तो नहीं आ गये ? अथवा अत्यन्त ऊँचे महेन्द्रादि सात विख्यात पर्वतों में से एक आपको चलने-फिरने की शक्ति तो नहीं मिल गई ? किंवा आपके रूप में कहीं उस महिषासुर ने फिर तो अवतार नहीं लिया ? हे महिषेन्द्र ! हमारे प्रश्नों का उत्तर दीजिए; हमको बड़ा विस्मय हो रहा है ।

मूर्ता किं तमसां छटा किमथवा नीलाचलो जङ्गमो

जीमूतः किमु संचरिष्णुरवनौ पादैश्चतुर्भिर्युतः ।

इत्येवं किल तर्कयन्ति मसृणत्वङ्मांसलः श्यामलो

एषां सौरिभमण्डलेश्वरदृशः पन्थानमारोहसि ॥ १० ॥

भावार्थ—हे भैंसों के मण्डलेश्वर ! चिकनी त्वचावाला आपका महापीवर काला-काला शरीर जिसके नेत्रों के सम्मुख आ जाता है उसे यह भ्रम होता है कि यह अन्धकार की मूर्तिमती छटा ही तो नहीं ? किंवा गमनशील नीलाचल पर्वत ही तो नहीं ? अथवा पृथ्वी पर चार पैरों से चलनेवाला महामेघ ही तो नहीं ?

भ्रातः सञ्चर मा बहिर्बहुतरव्याहारचूडामणे

त्वामालोक्य समुन्नताकृतिधरं सञ्चारिणं भीषणम् ।

कोऽप्येष क्षितिभृत्क्षितौ पुनरसावित्याग्रहोदग्रधी-

र्दम्भारिस्तत्र दम्भनाशनकृते दम्भोलिमुत्तम्भयेत् ॥ ११ ॥

भावार्थ—बहुत खानेवालों के बाबा, भाई महिष ! आप बाहर न निकला करें। इधर-उधर फिरनेवाले आपके भयङ्कर भूधराकार रूप को देखकर इन्द्र को कहीं यह भ्रम न हो जाय कि कोई पक्षधारी पर्वत फिर पृथ्वी पर आ गया! ऐसा भ्रम हो जाने से आपके दम्भ को दूर करने के लिए कहीं उसे अपना वज्र न उठाना पड़े।

त्वं बद्धोसि हि मद्गुणैर्दृढमहं बद्धोऽस्मि च त्वद्गुणै-
स्त्वं मां रक्षसि कासराधिप सखे रक्षामि च त्वामहम्।
इत्यन्योन्यकृतोपकारमुदितवावामिह द्वावपि
स्थास्यावः शरदां शतं द्रुतममी नश्यन्तु नः शत्रवः॥ २४॥

भावार्थ—आप हमारे गुण (रस्सी) से बँधे हैं और हम आपके गुण से बँधे हैं। आप हमारी रक्षा करते हैं और हम आपकी। इस प्रकार परस्पर उपकार द्वारा प्रसन्न होनेवाले हम दोनों सौ वर्ष तक जीते रहें; और हमारे शत्रुओं का शीघ्र ही नाश हो।

अब उन्मत्त राजाओं के विषय में बाल-कवि की दो-एक उक्तियाँ सुनिए—

विद्वन् मा कुरु साहसं शृणु वचो वक्ष्यामि यत्ते हितं
त्यक्त्वा कामहमत्र सैरिभपतिं निर्व्याजबन्धुं नृणाम्।
श्रीरङ्गाभिधपत्तनं प्रति सखे मा गा ज्वरस्यालयं
दूरे श्रीर्निकटे कृतान्तमहिषग्रैवेयघण्टारवः॥ १६॥

भावार्थ—हे विद्वन्! हे सखे! सुन हम तेरे हित की बात कहते हैं। सारी कामनाओं को सिद्ध करनेवाले, मनुष्यों के

अकारण बन्धु, इस महिष-नरेश को छोड़कर महा सन्तापकारी श्रीरङ्गपत्तन नगर की ओर जाने का तू कभी साहस न कर। वहाँ धन-प्राप्ति तो दूर, परन्तु यमराज के आगमन के सूचक, उसके वाहन के गले के घण्टे का शब्द निकट है।

न ब्रूषे परुषं न जल्पसि मृषावादान्न गर्वोन्नतिं
धत्से प्रत्युत लांगले विनियुतः सङ्क्लेशयित्वा वपुः।
मर्त्यानामनुपाधिजीवनकृते त्वं कल्पसे कासर
त्वय्येवं सति दुर्नृपाननुसरन् हन्तास्म्यहो वञ्चितः ॥ २१ ॥

भावार्थ—आप न कभी कठोर वचन कहते हैं, न झूठ बोलते हैं, न किसी प्रकार का गर्व ही करते हैं; प्रत्युत हल में जोते जाने पर, अपने शरीर को कष्टित करके, जीवों की जीविका का सम्पादन करते हैं! ऐसे सर्व-गुण-सम्पन्न आपके रहते, दुःशील राजाओं की सेवा करके हम अवश्य ठगे गये!

तिष्ठन्तु क्षितिपा धनान्धतमसप्राग्भारदूरीभवत्
कृत्याकृत्यविवेकमत्तहृदया नैवाश्रये तानहम्।
एहि त्वं सरसीतटं तव वपुर्मूर्धाभिषेकं जलै-
रस्मत्संवसथावनाय करवै राजेव संरक्ष माम् ॥ ३० ॥

भावार्थ—धन के मद से कृत्याकृत्य-विचारहीन उन्मत्त राजा अपने घर बैठे रहें। अब हम उनके आश्रय की परवा नहीं करते। आप हमारे साथ तलैया के तट तक चलिए; अपने ग्राम के पालन-निमित्त, वहाँ, हम जल से आपका मूर्धाभिषेक करेंगे। राजा के समान आप ही हमारी रक्षा कीजिए!

मैसूर के सूबेदारों को बाल-कवि का दिया हुआ वाग्दण्ड देखिए—

देहं स्वं परितापय यद्धि भवता धान्यं धनं वार्जितं
तत्सर्वं प्रसभं हरन्ति हि सुबेदाराः स्वकीयं यथा।
हेतुस्तत्र किलायमेव महिष ज्ञातो मया श्रूयतां
पुत्रा एव पितुर्हरन्ति सकलं प्रेम्णा बलाद्वा धनम् ॥ २६ ॥

भावार्थ—हे महिष! अपने शरीर को इतना परिताप पहुँचाकर जो कुछ धन अथवा धान्य आपने उपार्जन किया है, उस सबको अपना ही सा माल समझकर, ये सूबेदार बल-पूर्वक हरण कर रहे हैं। इसका कारण हमने समझ लिया। सुनिए, बलात्कार अथवा प्रेम से पुत्र ही पिता का धन हरण करते हैं। यही कारण है जो ये लोग आपका सर्वस्व लूट रहे हैं! अर्थात् ये सब आपके लड़के (भैंसे) हैं!

क्षुद्बाधां यदि यासि कासरपते तर्हीदमाकर्ण्यतां-
मस्माभिर्हि तृणीकृतान् खलु सुबेदारान् सुखं भक्षय।
निःसारानपराधलेशरहितानेतानकिञ्चित्करान्
घासान् भक्षयता त्वया कृषिमतां को वोपकारो भवेत् ॥

भावार्थ—हे महिषराज! यदि आपको क्षुधा लगे तो, हमारे द्वारा तृणवत् माने गये इन सूबेदारों को आप सुखपूर्वक खा जाइए। इन निरपराध, निःसार और तुच्छ कुश, काश आदि तिनकों को खाने में हमारे समान किसानों को भला आपसे क्या लाभ पहुँचेगा?

"महिष-शतक" में जो दो-दो अर्थों से गर्भित श्लोक हैं उनको हिन्दी में अच्छे प्रकार समझाना कठिन है। तथापि दो-एक के भावार्थ लिखने का प्रयत्न करके हम इस निबन्ध की समाप्ति करेंगे। महिषासुरजी का "सुकवि" होना देखिए—

उल्लेखान् विविधान् करोपि च पदन्यासस्तथान्यादृशः
पद्यालोकनदत्तदृष्टिरसि च प्रायः प्रबन्धे स्थितः।
कोशाधारतया स्थितश्च रसिक*प्राये स्थले सादर-
स्तेन श्रीमहिषाधिराज सुकविं त्वामेव मन्यामहे ॥ ४७ ॥

भावार्थ—कवि नाना प्रकार के उल्लेखादिक अलङ्कारों की रचना करता है; आप भी (अपने सींगों से) अनेक उल्लेख (पृथ्वी पर रेखायें खींचना) करते हैं। कवि, लोकोत्तर पदों की योजना करता है; आपकी भी पद-योजना (पाद-क्षेप) लोकोत्तर होती है। कवि पद्यावलोकन (पद्य के देखने) में दत्तदृष्टि रहता है; आप भी पद्यावलोकन (पद्या = मार्ग के अवलोकन) में दत्तदृष्टि रहते हैं। कवि, प्रबन्ध (ग्रन्थ) के सहारे रहता है; आप भी प्रबन्ध (बन्धन) के सहारे रहते हैं। कवि को कोश (शब्दकोश) का आधार रहता है; आपको भी कोश (द्रव्यवान् घर) का आधार रहता है। कवि

* 'क' का अर्थ जल और चरसि का अर्थ फिरना है। कवि के अर्थ में पदच्छेद—(च) रसिक-प्राये स्थले सादरः। महिष के अर्थ में पदच्छेद—चरसि कप्राये स्थले सादरः। दोनों में अक्षर वही रहते हैं; परन्तु पदों का विश्लेषण करने से पृथक् पृथक् दो अर्थ निकलते हैं।

"रसिकप्राये स्थले सादरः" अर्थात् रसिकयुक्त स्थल से सादर स्नेह रखता है; आप भी "चरसि कप्राये स्थले सादरः" अर्थात् जलयुक्त स्थान ही में विचरण करते हैं। अतएव, हे महिषाधिराज ! हम आप ही को सुकवि मानते हैं।

कृष्ण की समता सुनिए—

संप्राप्तः सहजं बलं भुवि महान् जातोऽसि कृष्णात्मना
कंसा※नन्दमहो मुखेन सरसः गृह्णासि गोपान्वितः।
नैकाभिर्महिषीभिरन्वहमपि क्रीडां विवित्से मुदा
तस्मात्त्वाद्यदुनाथ एव महिषाधीश त्वमालक्ष्यते ॥ ६० ॥

भावार्थ—इस भूमण्डल में बल (बलराम) को सहज ही पाकर, कृष्ण की आत्मा द्वारा, यदुनाथ उत्पन्न हुए हैं; आप भी बल (शक्ति) को सहज ही पाकर कृष्णात्मा (काली आत्मा के, काले रङ्ग के) उत्पन्न हुए हैं। मुख में सरसता को धारण करनेवाले यदुनाथ ने गोपालों से अन्वित होकर कंस

※ इस श्लिष्ट वाक्य को हम हिन्दी में अच्छी तरह नहीं दरसा सकते, संस्कृत में महिष के लिए ऐसा अन्वय होगा—

गोपान्वितः (सन्) अहो त्वम् सरसः कं (जलं) मुखेन सानन्दं गृह्णासि।

और यदुनाथ के लिए होगा—

गोपान्वितः (सन्) मुखेन सरसः (यदुनाथः) अहो कंसानन्दं गृह्णाति।

दोनों पद्यों में, इस श्लोक के दूसरे चरण के अक्षरों में साम्य है; परन्तु श्लिष्ट पदों को अलग-अलग करने से जुदे-जुदे दो अर्थ निकलते हैं।

के आनन्द को ले लिया है (नाश किया है); आप भी गोपालों ही से अन्वित होकर सुख से तड़ाग के जल को सानन्द ग्रहण करते हैं। यदुनाथ ने अनेक महिषीगणों (रानियों के समूह) के साथ प्रति दिन क्रीड़ा की है; आप भी अनेक महिषीगणों (भैंसियों के समूह) के साथ सदैव क्रीड़ा किया करते हैं। अतः हे महिषी के अधीश्वर! आप साक्षात् यदुनाथ (कृष्ण) हैं!

दो अर्थवाला बस एक और पद्य सुन लीजिए। इसमें महिष-महाराज की समता अनेक कपियों से की गई है—

सुग्रीवोसि महान् गजोसि वपुषा नीलः प्रमाथी तथा
धूम्रश्चासि महानुभाव महिष त्वं दुर्मुखः केसरी।
इत्थं ते सततं महाकपिशताकारस्य साहाय्यतः
सीतां प्राप्य विलङ्घ्य दुःखजलधिं नन्दामि रामः स्वयम्॥७०॥

भावार्थ—हे महानुभाव महिष! आप सुग्रीव (अच्छी ग्रीवा-वाले) हैं; शरीर से महागज (गज नाम का एक कपि भी हो गया है) हैं; प्रमाथी (प्रमाथी नाम के कपि तथा मथन करने-वाले) हैं; धूम्र (धूम्र नाम के कपि तथा धूम्रवर्णवाले) हैं; केसरी (केसरी नामक कपि) तथा 'के' [जल में] 'सरी' [प्रवेश करनेवाले] हैं। इस प्रकार कपिशताकार-धारी (सैकड़ों कपियों के आकार तथा कपिश रङ्ग के आकारवाले) आपकी सहायता से सीता (जानकी तथा हल से विदीर्ण हुई भूमि) को पाकर, दुःख-रूपी जलधि को पारकर, स्वयं राम (रमण करनेवाले) होकर हम आनन्द कर रहे हैं।

हम भी अब बाल-कवि को आनन्द करते छोड़, दो-एक बातें और लिखकर, लेखनी को विश्राम देना चाहते हैं।

नैषध के त्रयोदश सर्ग में दो-दो अर्थवाले केवल पचीस ही तीस श्लिष्ट श्लोक हैं; परन्तु महिष-शतक में ऐसे-ऐसे कोई ५६ श्लोक हैं। ये सब श्लोक अर्थद्वय से गर्भित होकर भी सरस हैं और सरल भी हैं। यह शतक कवियों की निरङ्कुशता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। कवि सब कुछ करने में समर्थ हैं; वे चाहे राई का पर्वत बना दें और चाहे पर्वत की राई! इसी लिए बिल्हण कवि ने विक्रमाङ्कदेवचरित के अन्त में लिखा है कि कवियों से विरोध करना उचित नहीं। रुष्ट होने से वे बड़ों-बड़ों की कीर्ति को धूल में मिला देते हैं और प्रसन्न होने से अकिञ्चन जनों को भी इन्द्रासन पर आसीन कर देते हैं।

[आक्टोबर १९०१

३—महाकवि भास के नाटक

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रस्तावना में लिखा है—"प्रथितयशसां भाससौमिल्ल-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ कथं बहुमानः"। इससे मालूम हुआ कि भास-कवि कालिदास से बहुत प्राचीन हैं और कालिदास के ज़माने में उनके नाटकों का बड़ा मान था। राजशेखर कवि ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में भास की और तत्कृत स्वप्नवासवदत्ता नामक नाटक की प्रशंसा की है। लिखा है—

भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

ईसा के सातवें शतक के कवि, बाण-भट्ट, ने भी हर्षचरित में, भास के विषय में, लिखा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

नाटकों की रचना करके अनन्त यशोराशि का अर्जन करनेवाले भास का अब तक नाम ही नाम सुन पड़ता था। उसके ग्रन्थ अप्राप्य थे। पर संस्कृत-भाषा और भारत के सौभाग्य से वे अब प्राप्य हो गये। ट्रावनकोर के महाराज बड़े विद्यानुरागी और स्वयं बड़े पण्डित हैं। संस्कृत में आप उत्तम कविता भी कर लेते हैं। आपने अपनी राजधानी, त्रिवेन्द्रम,

से प्राचीन संस्कृत पुस्तकें प्रकाशित करने का एक महकमा खोल रक्खा है। अब तक महाराज की संस्कृत-ग्रन्थ-माला में सत्रह-अठारह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीयुक्त त० गणपति शास्त्री इस कार्य के अध्यक्ष हैं। उन्हीं के प्रयत्न से भास के ग्रन्थों का पुनरपि प्रचार भारत में हुआ है।

ट्रावनकोर-राज्य में पद्मनाभपुर नाम का एक नगर है। उसके पास मणलिक्कर-मठ में, ३०० वर्ष के पुराने ताल-पत्रों पर, पुरानी केरल-लिपि में, लिखी हुई एक पुस्तक गणपति शास्त्री को मिली। उसकी परीक्षा से मालूम हुआ कि उसमें महाकवि भास के दस नाटक हैं। उनके नाम हैं—

१ स्वप्नवासवदत्तम् ६ दूतघटोत्कचम्
२ प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् ७ बालचरितम्
३ पञ्चरात्रम् ८ मध्यमव्यायोगः
४ अविमारकम् ९ कर्णभारम्
५ चारुदत्तम् १० ऊरुभङ्गम्

पीछे से गणपति शास्त्रीजी को इनमें से कई नाटकों की और भी प्रतियाँ माइसोर आदि से प्राप्त हुईं। इन अनमोल ग्रन्थ-रत्नों को प्राप्त करके शास्त्रीजी इनके सम्पादन-कार्य में लग गये। फल यह हुआ कि पूर्वोक्त दसों नाटकों में से पहले तीन नाटक, बड़े अच्छे टाइप में, सुन्दर पुष्ट काग़ज़ पर, छपाकर उन्होंने प्रकाशित कर दिये। अवशिष्ट सात नाटक भी, सम्पादन हो चुकने पर, शीघ्र ही प्रकाशित किये जायँगे।

अनेक पुरातत्ववेत्ता कालिदास को ईसा की चौथी या पाँचवीं सदी का कवि मानते हैं। वे कहते हैं कि ईसवी सन् के पहले कालिदास की जैसी संस्कृत का प्रचार ही भारत में न था। भास के ग्रन्थों की प्राप्ति ने इस कल्पना की इमारत को एकदम ढहा दिया। भास के नाटकों की संस्कृत-भाषा कालिदास के नाटकों की संस्कृत से किसी भी बात में—सरसता, सरलता और स्वाभाविकता आदि में—कम नहीं; कहीं-कहीं उससे बढ़कर अवश्य है। देखिए—

१—पायात् स वोऽसुरवधूहृदयावसादः
पादो हरेः कुवलयामलखड्गनीलः।
यः प्रोन्नतस्त्रिभुवनैकमणे रराज
वैदूर्य्यसंक्रम इवाम्बरसागरस्य।

२—यो गाधिपुत्रमखविघ्नकराभिहन्ता
युद्धे विराधखरदूषणवीर्यहन्ता।
दर्पोद्धतोल्वणकबन्धकपीन्द्रहन्ता
पायात् स वो निशिचरेन्द्र कुलाभिहन्ता॥

३—पादः पायादुपेन्द्रस्य सर्वलोकोत्सवः स वः।
व्याविद्धो नमुचिर्येन तनुताम्रनखेन खे॥

यह पद्यरचना का नमूना है। भास का गद्य भी बहुत बढ़िया है।

ईसा की बारहवीं शताब्दी में बन्धघटीय सर्वानन्द नामक एक विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने अमरकोश पर टीका की है। उसमें उन्होंने भास की वासवदत्ता का उल्लेख किया है। अतएव महाकवि भास बारहवीं शताब्दी के पहले के सिद्ध हुए।

नवें शतक के अभिनवगुप्तपाद ने भी, अपनी भरतनाट्यवेदविवृति में, स्वप्नवासवदत्त का नाम लिखा है। अतएव भास महाकवि अभिनवगुप्तपाद के पूर्ववर्ती ठहरे। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के कर्ता वामन, अभिनवगुप्तपाद के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने तो भास के कई नाटकों के पद्यों के उदाहरण तक दिये हैं। इसी तरह छठे शतक के आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में भास के चारुदत्त और बालचरित नाटकों से एक-एक श्लोक उद्धृत किया है। अतएव भास छठे शतक के भी पहले के हुए। कालिदास ने तो भास का उल्लेख किया ही है; कालिदास के पूर्ववर्ती भामह ने भी अपने काव्यालङ्कार में भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण-नाटक में कही गई बातों का अनुधावन किया है। इतना ही नहीं, इसके पूर्व चौथी सदी के कौटिल्य चाणक्य ने तो प्रतिज्ञायौगन्धरायण-नाटक का एक श्लोक, ज्यों का त्यों, अपने अर्थशास्त्र में उद्धृत कर दिया है। वह श्लोक यह है—

नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत् तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्ध्येत्॥

अतएव यह सर्वथा सिद्ध हो गया कि महाकवि भास चाणक्य से भी पुराने हैं। गणपति शास्त्री ने स्वप्नवासवदत्त के उपोद्घात में इन सब बातों पर बड़ी योग्यता से विचार किया है। उन्होंने कई स्थल ऐसे भी दिखाये हैं जिनमें कालिदास ने भास की छाया पर रचना की है। प्राचीन नाटककार शूद्रक ने तो अपने मृच्छकटिक नाटक की रचना भास के चारु-

दत्त नामक नाटक ही के आधार पर की है। भास के नाटक का विस्तार-भाव शूद्रक ने किया है। वीच-बीच में भास ही की रचना—कहीं ज्यों की त्यों, कहीं कुछ काट-छाँटकर—रख दी है। भास ने अपने चारुदत्त नाटक में लिखा है—

यासां वलिर्भवति मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विभक्तपुष्पः।
तास्वेव पूर्वबलिरूढयवाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः॥

शूद्रक ने, मृच्छकटिक में, यही पद्य इस तरह लिखा है—

यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव सम्प्रति विरूढतृणाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः॥

भास ने केवल महाभारत और रामायण के आधार पर पूर्वोक्त दसों नाटकों की रचना की है। स्वप्नवासवदत्त में राजा वत्सराज के वासवदत्ता-सम्बन्धी स्वप्न की कथा है। इसी से उसका नाम "स्वप्नवासवदत्तम्" है। जो संस्कृत भाषा समझ लेते हैं उन्हें भास के नाटकों का अवश्य अवलोकन करना चाहिए।

[फ़रवरी १९१३

४—अश्वघोष-कृत सौन्दरनन्द काव्य

भारत के प्राचीन कवियों में अश्वघोष भी बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका बुद्ध-चरित नामक ग्रन्थ बहुत ही आदरणीय काव्य है। काव्यल साहब की बदौलत वह सुलभ हो गया है; उनके द्वारा उसे प्रकाशित हुए बहुत समय हुआ। संस्कृतचन्द्रिका के सम्पादक विद्वद्वर पण्डित अप्पाशास्त्री के द्वारा प्रकाशित उसके पाँच सर्ग, उनकी टीका-सहित, अलग भी छप चुके हैं। इस कारण बुद्ध-चरित का अच्छा प्रचार हो गया है और काव्य-प्रेमी जनों को उससे आनन्द प्राप्त करने का द्वार अच्छी तरह खुल गया है। अब तक लोगों का ख़याल था कि अश्वघोष ने इसी काव्य-ग्रन्थ की रचना की है। पर अब खोज से मालूम हुआ है कि अश्वघोष के लिखे हुए और भी कई ग्रन्थ हैं। महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र, महालङ्कार-सूत्र-शास्त्र, उपाध्याय-सेवा-विधि आदि और भी सात-आठ ग्रन्थों का पता लगा है। उनमें से कई ग्रन्थों के अनुवाद भी चीनी और जापानी भाषाओं में मिलते हैं। अश्वघोष के ग्रन्थों में बुद्ध-चरित के सिवा एक और भी काव्य उपलब्ध हुआ है। उसका नाम है सौन्दर-नन्द-काव्य। यह काव्य बङ्गाल की एशियाटिक सोसायटी की कृपा से छपकर प्रकाशित भी हो गया है। यद्यपि यह काव्य कालिदास के काव्यों की टक्कर का नहीं तथापि इसमें

मनोरञ्जन की फिर भी बहुत सामग्री है। इसके सिवा इस काव्य की प्राचीनता, और अनेक अंशों में इसकी ऐतिहासिकता भी, इसके महत्व को बढ़ानेवाली है। इस दृष्टि से भी यह काव्य संग्रह करने योग्य है। बहुत दिनों से हमारी इच्छा थी कि पाठकों का परिचय इस काव्य से करावें, परन्तु अनेक कारणों से अपनी इस इच्छा को हम सफल न कर सके। हमारे लिए सन्तोष की बात है कि इस काव्य के विषय में एक और विद्वान् ने एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित कर दिया। बँगला में "गृहस्थ" नाम का एक मासिक पत्र निकलता है। उसमें कभी-कभी बहुत अच्छे लेख निकल जाया करते हैं। उसी के गत फाल्गुन महीने के अङ्क में श्रीयुक्त पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य ने अश्वघोष के सौन्दरनन्द-काव्य पर एक पाण्डित्यपूर्ण लेख प्रकाशित किया है। अतएव हम अपनी ओर से कुछ न लिखकर भट्टाचार्यजी ही के कथन के महत्वपूर्ण अंशों को, संक्षेप में, यहाँ पर लिखे देते हैं।

चीनी और जापानी-साहित्य में अश्वघोष के समय-निरूपण-सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कल्पनायें की गई हैं। किसी ने उन्हें बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष, किसी ने ६०० वर्ष और किसी ने ७०० वर्ष बाद हुआ बताया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे ईसा की पहली शताब्दी के परवर्ती कवि नहीं। उनके समय के विषय में जो कुछ लिखा गया है उस पर विचार करने से निश्चित जान पड़ता है कि न तो वे ईसवी सन् के चालीस-

पचास वर्ष से अधिक पहले के हैं और न उसके सत्तर-अस्सी वर्ष से अधिक पीछे के।

अश्वघोष का जन्म ब्राह्मण-वंश में हुआ था। उनके पिता का नाम संघगुह्य था। वे साकेत, अर्थात् अयोध्या, के निवासी थे। उनकी मा एक वणिक् की कन्या थी। गौड़, तिरहुत और कामरूप आदि देशों में जाकर उन्होंने विद्याध्ययन किया था। चीन और तिब्बत में प्राप्त हुए कई ग्रन्थों से यह भी विदित होता है कि पाटलिपुत्र और नालन्दा में भी उन्होंने कुछ दिन निवास किया था। वे महापण्डित थे। उन्होंने अनेक बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। परन्तु अन्त में पार्श्व नामक पण्डित के द्वारा वे स्वयं ही परास्त हुए। पार्श्व ने उनका पराभव करके उन्हें बौद्ध बना लिया। तब वे गान्धार-देश में जाकर राजा कनिष्क के आश्रय में जा रहे।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द-काव्य के अनेक अंश भाव-वैचित्र्य और चमत्कार से पूर्ण हैं। उसकी भाषा परिमार्जित और प्राय: प्रसादगुण-पूर्ण तथा मधुर है।

इस काव्य में कवि ने सुन्दरी और नन्द नामक दो व्यक्तियों का चरित वर्णन करके उसी के बहाने मोक्ष-शिक्षा दी है। मोक्ष-शिक्षा ही उनका उद्देश्य था। इससे इस काव्य में शान्त रस ही का आधिक्य है। इसमें अठारह सर्ग हैं। बारहवें से लेकर सत्रहवें सर्ग तक, क्रम-क्रम से, अश्वघोष ने बौद्धसाधन-पद्धति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। इस

काव्य में जगह-जगह पर कवि का कवित्व-कौशल प्रकाशित हुआ है। अश्वघोष का उद्देश्य यदि निर्वाण-साधनों का वर्णन करना न होता—यदि वे भी अन्यान्य कवियों की तरह सांसारिक विषयों ही का वर्णन करते—तो उनका यह काव्य और भी अधिक मनोहारी होता। उनके इस काव्य का नायक नन्द ऐतिहासिक व्यक्ति है। वह बुद्धदेव की वैमात्रेय मौसी का भाई था।

सौन्दरनन्द की कविता एक नहीं अनेक स्थलों में कालिदास की कविता से मिलती है। रघुवंश के दूसरे सर्ग में कालिदास ने लिखा है—

> ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
> जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः॥

सर्ग २, श्लोक ३०

इस श्लोक में कालिदास ने जिस रमणीया रीति का अवलम्बन किया है उसी का अवलम्बन अश्वघोष ने सौन्दरनन्द-काव्य के पाँचवें सर्ग के छठे श्लोक में किया है। देखिए—

> ततो विविक्तञ्च विविक्तचेताः सन्मार्गविन्मार्गमभिप्रतस्थे।
> गत्वाग्रतश्चाग्र्यतमाय तस्मै नन्दीविमुक्ताय ननाम नन्दः॥

कालिदास ने रघुवंश के सातवें सर्ग में लिखा है—

> परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
> अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत्॥

सर्ग ७, श्लोक १४

अश्वघोष ने यही भाव सौन्दरनन्द के चौथे सर्ग के सातवें श्लोक में इस प्रकार निबद्ध किया है—

तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दो निषेवते सा न च तं नतभ्रूः ।
द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥

कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती के विषय में लिखा है—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।

नन्द के विषय में अश्वघोष ने भी इसी प्रकार की एक उक्ति अपने काव्य के चौथे सर्ग में कही है । देखिए—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥

सौन्दरनन्द के सोलहवें सर्ग में अश्वघोष ने लिखा है—

किमत्र चित्रं यदि वीतमोहो वनं गतः स्वस्थमना न मुह्येत् ।
आक्षिप्यमाणो हृदि तन्निमित्तैर्न क्षोभ्यते यः स कृती स धीरः ॥

यह उक्ति कुमारसम्भव में कही गई कालिदास की उक्ति से बिलकुल ही मिल जाती है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

इन उदाहरणों से पाठकों को यह मालूम हो जायगा कि अश्वघोष की कविता कहाँ तक रसवती, मनोहारिणी और स्वाभाविक है । इनसे यह भी मालूम हो जायगा कि कालिदास और अश्वघोष की उक्तियाँ कहाँ तक लड़ गई हैं और शब्द-

स्थापना तथा रचनारीति में दोनों की कविता में कहाँ तक सादृश्य है। अब यदि कालिदास की स्थिति ईसामसीह के ५६ वर्ष पहले मानी जाय ता यह भी अवश्य ही मानना पड़ेगा कि कालिदास के काव्यों का अच्छी तरह परिशीलन करके अश्वघोष ने सौन्दरनन्द की रचना की है।

इसके सिवा कालिदास के प्रयुक्त 'नरेन्द्रमार्ग', 'स्पर्शत्तम', 'नवं वयः', 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' इत्यादि प्रयोग भी सौन्दरनन्द-काव्य में प्रायः तद्वत् ही मिलते हैं। अतएव इन सादृश्यों से कालिदास और अश्वघोष के समय के विषय में निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं।

पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य की सम्मति है कि सौन्दरनन्द-काव्य में च्युत-संस्कृति दोष बहुत ही अधिक है; उसमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। यह दोष बुद्ध-चरित में भी है पर सौन्दरनन्द में उससे भी अधिक है। इसके सिवा इसमें और भी काव्य-दोष हैं। च्युत-संस्कृति के दो-चार उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) कुशेशयान् × × × कोकनदांश्च। सर्ग १०। २६

(२) केचित् स्वकेष्वावसथेषु तस्थुः कृताञ्जलीन् वीक्षण-
तत्पराक्षाः। सर्ग ५। २

(३) कामेषु नैयं कृपणेषु सक्ताः। सर्ग ५। ३८

नं० (१) उदाहरण में 'कुशेशय' और 'कोकनद' शब्द पुल्लिङ्ग माने गये हैं; पर हैं वे क्लीव-लिङ्ग।

(२) में 'कृताञ्जलीन्' की जगह कृताञ्जलयः चाहिए।

(३) में 'कामेषु' की जगह सर्वनाम व्यवहार करना चाहिए था।

और दोषों के भी दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) तथा नृपर्षे र्दिलिपस्य। सर्ग ७। ३२

(२) प्रव्रज्या न इह स्थिता। सर्ग १३। १६

पहले उदाहरण में केवल छन्द न बिगड़ने के डर से दिलीपस्य का 'दिलिपस्य' कर दिया गया है और दूसरे में न × इह के बीच सन्धि ही नहीं की गई।

इन दोषों के होते हुए अश्वघोष का सौन्दरनन्द-काव्य बड़े महत्व का है। जो महाशय संस्कृतज्ञ होकर काव्यरसिक हैं उन्हें एक बार इसे अवश्य देखना चाहिए।

[मई १९१३

५—श्रीमद्भागवत

जितने पुराण और उपपुराण हैं, एक भी श्रीमद्भागवत की समता नहीं कर सकता। यह पुराण सबका शीर्ष-स्थानीय है। इसमें अनेक शास्त्रों और अनेक विषयों के तत्त्व निहित हैं। किसी का वर्णन विस्तार से है, किसी का संक्षेप से। इसमें वेदान्त है, इसमें सांख्य है, इसमें योग है, इसमें मीमांसा है। ज्ञानकाण्ड भी इसमें है, कर्म्मकाण्ड भी इसमें है। कोई शास्त्र ऐसा नहीं जिसका कुछ न कुछ विचार इसमें न किया गया हो। नास्तिकों के भी जानने की बातें इसमें हैं और आस्तिकों के भी। दोष ढूँढ़ने की दृष्टि से यदि नास्तिक इसकी समालोचना में प्रवृत्त हों तो इसमें एक न एक बात उनके मतलब की भी निकल आवेगी। प्रसङ्ग का विचार करने, पुराणकार के आशय पर विशेष ध्यान देने और परीक्षा की कसौटी पर कसने से ऐसी बात भले ही ठीक न उतरे; पर ऊपरी दृष्टि से नास्तिक भी इसके अवलोकन से अपना मतलब, कुछ देर के लिए, अवश्य ही गाँठ सकते हैं। मूर्ति-पूजा के विरोधी, अपने मत की पुष्टि में, इस महापुराण के तीसरे स्कन्ध के उनतीसवें अध्याय के नीचे नक़ल किये गये श्लोक पेश कर सकते हैं। वे श्लोक ये हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ २१ ॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २२ ॥

परन्तु इसके वाद ही पुराणकार ने मूर्त्ति-पूजा के विरोधियों को यथेष्ट उत्तर भी दे दिया है । वह उत्तर यह है—

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २५ ॥

मतलव यह कि ईश्वर कहीं दूर नहीं । वह सर्वत्र व्यापक है । वह सभी के हृदय में है । उसका जब ज्ञान हो जाय—उसकी स्थिति जब हृदय में ज्ञात हो जाय—तब अन्यत्र—शरीरियों और जड़ पदार्थों में—पूजा-अर्च्चा का वखेड़ा न करना । तव तक तो करो ।

शास्त्रीय और धार्म्मिक वातों को जाने दीजिए । यदि आप इसे काव्य समझकर ही पढ़ेंगे तो भी मनोरञ्जन तो आपका अवश्य ही होगा । इसके कितने ही अंशों में, विशेष कर दशम स्कन्ध में, काव्य के प्रायः सभी लक्षण, अनेक जगह, मिलते हैं । उन स्थलों की कथा इतनी सरस और इतनी रमणीय है कि उसका वारम्वार पाठ करने से भी तृप्ति नहीं होती । उसके परिशीलन से सहृदय जन अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करते हैं । जो लोग शुष्क-हृदय हैं—काव्य-रस का अनुभव जिनके भाग्य में नहीं—उनकी वात हम नहीं कहते । उनके लिए यह है भी नहीं । वे ख़ुशी से इसे कपोल-कल्पना, गपोड़वाज़ी या पौराणिक प्रलाप कहा करें । किसी पुस्तक को काव्य अथवा

कहानी समझकर पढ़ने में इस तरह की शङ्का के लिए—उसे कपोल-कल्पना कहने के लिए—अवकाश ही नहीं। तत्त्वपूर्ण और विज्ञान-सिद्ध बातों ही का विवेचन करनेवाले ग्रन्थ किसी भी भाषा के साहित्य में थोड़े ही होते हैं। अधिक भाग तो मनोरञ्जन करनेवाली पुस्तकों ही का होता है। आस्तिक तथा नास्तिक और धार्म्मिक तथा अधार्म्मिक, सभी लोग ऐसी पुस्तकें पढ़कर अपना मन मुदित कर सकते हैं। इस दशा में भारत-वर्ष के सभी धर्म्मों, सम्प्रदायों और मतों के अनुयायी, यदि और कुछ नहीं तो, श्रीमद्भागवत से अपना मनोरञ्जन तो अवश्य ही कर सकते हैं। और जिस पुस्तक से मनोरञ्जन भी हो और सहृदय रसिकों को अलौकिक आनन्द का लाभ भी हो, वह फेंक देने, निन्द्य कहलाने अथवा अनादृत होने की चीज़ नहीं। अतएव, हर दृष्टि से श्रीमद्भागवत हमारी श्रद्धा का भाजन है।

जिनको भगवान् ने हृदय दिया है और जो भक्ति तथा प्रेम की महिमा जानते हैं उनके लिए तो भागवत में ऐसे-ऐसे अनुपम पदार्थ भरे हुए हैं जो अन्यत्र शायद ही कहीं मिलें। इस अद्वितीय ग्रन्थ के अधिकांश में भक्ति और प्रेम का ऐसा गम्भीर अमृतोदधि भरा हुआ है कि उसमें अहर्निश ग़ोते लगाते रहने पर भी भक्तजन उसकी थाह नहीं पाते। जिस समय बालक प्रह्लाद भगवान् नृसिंह की स्तुति करते-करते कहता है कि—

काहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।

न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥

स्कन्ध ७, अध्याय ९

उस समय उनकी सुध-बुध जाती रहती है। वे विह्वल हो जाते हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। जो सहृदय हैं वे चाहे जितने बड़े तत्त्ववेत्ता और विज्ञान-शास्त्री हों उनका सारा तत्त्वज्ञान और सारा शास्त्रज्ञान, एक बूँद की तरह, प्रह्लाद-स्तुति के रसार्णव में लुप्त हो जाता है। आधे नर, आधे सिंह, के आकार का प्राणी संसार में नहीं होता, और दस वर्ष का बच्चा वेदान्त और भक्ति-योग नहीं बूँकता, इस शङ्का का अङ्कुर तक उनके हृदय में नहीं उत्पन्न होता। उसके लिए वहाँ जगह ही कहाँ? हृदय का सर्वांश तो भक्ति और प्रेम के प्रबल प्रवाह में पड़कर डूब सा जाता है।

इसी तरह जब गोपियाँ कृष्ण से कहती हैं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ ३१ ॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म्म इति धर्म्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥

× × ×

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वाऽपि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ३८ ॥

स्कन्ध १०, अध्याय २६

तब भी भावुकों और भक्तों को जो आनन्द होता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। उस समय भक्ति के उद्रेक में उन्हें लोकाचार का स्मरण तक नहीं आता, उसके उल्लङ्घन का विचार तो दूर की बात है। जब गोपियों ने अपने प्रेमास्पद कृष्ण से यह कह दिया कि शरीरधारी मात्र में आप ही की आत्मा भासमान है—जितने देहधारी हैं सभी में आपकी आत्मा का आवास है—तब उन्होंने सब कुछ कह दिया। इस दृष्टि से पिता, भ्राता और पुत्र ही नहीं, पति भी कृष्ण ही हुए। क्योंकि गोपियों के पतियों में भी तो कृष्ण ही की आत्मा का अंश विराजमान था। गोपियाँ कृष्ण को ही ईश्वर समझती थीं; और, किसी भी भाव से ईश्वर की सेवा और उसका भजन करना, भक्तों की दृष्टि में, कल्याण-जनक ही है। कृष्ण को परमात्मा का अवतार समझकर जिस दास्य-भाव से गोपियों ने उनको देखा है उसका रहस्य सात्विक प्रेमी और सच्चे भक्त ही

जान सकते हैं। कुछ लोग कृष्ण और गोपियों के इस प्रसङ्ग को रूपक बताकर उससे विलक्षण-विलक्षण अर्थ निकालते हैं। उनकी इस चेष्टा को देखकर दुःख होता है। उनका यह कार्य्य पुराणकार की विडम्बना के सिवा और कुछ नहीं।

इन प्रान्तों में सबसे अधिक प्रचार तुलसीकृत-रामायण का है। प्रचार-सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत का नम्बर दूसरा है। सैकड़ों हज़ारों पण्डितों की जीवन-वृत्ति इसके पाठ से चलती है। शहरों की तो बात ही नहीं, देहात में भी इसका बड़ा आदर है। छोटे-छोटे गाँवों तक में इसके ज्ञाता पण्डित पाये जाते हैं। समय-समय पर, विशेष करके वर्षा ऋतु में, इसके पारायण होते हैं। इसकी कथा सुनने के लिए कोस-कोस दो-दो कोस से सैकड़ों नर-नारी आते हैं और बड़े ही भक्ति-भाव से कथा सुनते हैं। समाप्ति के दिन पुराण-पाठी पण्डितजी को सैकड़ों रुपये मिल जाते हैं। हमने ऐसे अनेक पुरुषों और स्त्रियों को देखा है जिन्होंने निर्जल और निराहार रहकर, प्रातःकाल से सायङ्काल तक, बराबर सात दिन तक, कथा-श्रवण किया है।

जिस ग्रन्थ का हिन्दुओं में इतना आदर और प्रचार है वह यदि थोड़ी हिन्दी जाननेवालों के लिए भी सुलभ हो जाय तो कितनी प्रशंसा की बात है। यह पुराण बड़े महत्त्व का तो है, पर है क्लिष्ट। किसी-किसी स्थल में इसकी संस्कृत-रचना बहुत ही क्लिष्ट है, किसी-किसी स्थल में कम। अतएव अच्छा

संस्कृतज्ञ ही इसका भावार्थ समझ सकता है और उसकी व्याख्या हिन्दी में कर सकता है। जब से इसकी दो-एक हिन्दी टीकायें छपकर प्रकाशित हुईं तब से थोड़ी संस्कृत जाननेवाले भी इससे आनन्द प्राप्त करने लगे और केवल हिन्दी जाननेवालों को भी इसका अर्थ-ज्ञान होने लगा। यह बड़ी बात हुई। यदि ऐसा न होता तो इसका प्रचार अवश्य ही कम हो जाता। क्योंकि देहात में संस्कृत पढ़ने-पढ़ाने की परिपाटी कम होती जाती है।

आज तक श्रीमद्भागवत के अनेक हिन्दी-अनुवाद और हिन्दी-टीकायें प्रकाशित हुई हैं। एक हिन्दी-अनुवाद बड़े सुन्दर टाइप में बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ है। उसमें संस्कृत-श्लोकों का भावार्थ-मात्र हिन्दी में है। अध्यायों के आद्यन्त के श्लोक छोड़कर मूल का और अंश उसमें नहीं। दूसरा हिन्दी-अनुवाद मुम्बई के वेङ्कटेश्वर प्रेस से निकला है। उसमें मूल भी है। वह खुले पत्रों में है और विशेष करके कथा कहनेवाले पण्डितों के लिए है। इस पुराण का एक और भी संस्करण हमें देखने को मिला है। इसमें ऊपर, कुछ बड़े टाइप में, मूल संस्कृत है। उसके नीचे, प्रत्येक श्लोक का अङ्क देकर, उसका भावार्थ सरल हिन्दी में लिख दिया गया है। संस्कृत-भाग बहुत शुद्धता-पूर्वक छपा है। इस संस्करण में एक बात बड़े काम की है। इसके श्लोकों के पदों पर, अन्वय के अनुसार, यथाक्रम, १, २, ३ आदि अङ्क

लिख दिये गये हैं। अङ्क-क्रम से उन्हें पढ़ने से श्लोक का अन्वय हो जाता है, अर्थात् वह पद्य से गद्य में परिणत हो जाता है। इस कारण थोड़ी भी संस्कृत जाननेवाले, विना हिन्दी टीका देखे, मूल का भाव वहुत कुछ समझ सकते हैं। श्रीमद्-भागवत की अनेक प्राचीन टीकाओं के आधार पर, संस्कृत-श्लोकों का जो अर्थ, इस पुस्तक में, हिन्दी में दिया गया है वह भी पुराणकार के आशय का पूरा-पूरा द्योतक है। यह इसकी दूसरी ख़ूबी है। इसकी तीसरी ख़ूबी यह है कि अनु-वाद की हिन्दी वहुत ही सीधी-सादी है। उसमें यत्र-तत्र पण्डिताऊ हिन्दी की झलक अवश्य है; पर इससे अर्थ-ज्ञान-सम्वन्धिनी हानि कुछ भी नहीं। इस अनुवाद के कर्त्ता और इस पुस्तक के सम्पादक मुरादावाद-प्रवासी पण्डित रामस्वरूप शर्म्मा हैं। आपकी रचना से सूचित होता है कि आप अच्छे संस्कृतज्ञ और श्रीमद्भागवत के अच्छे मर्म्मज्ञ हैं। पुस्तक वड़ी-वड़ी दो जिल्दों में है। सुन्दर और सुदृढ़ जिल्द वँधी हुई है। छपी भी अच्छी है। दोनों जिल्दों की पृष्ठ-संख्या कुछ कम तीन हज़ार है। मूल्य दोनों जिल्दों का केवल ५) रुपया है। इस मूल्य में शायद ही लागत का ख़र्च निकले। मुरादावाद के लक्ष्मीनारायण प्रेस के मालिकों ने अपने ही ख़र्च से इस ग्रन्थ-रत्न को छापकर प्रकाशित किया है।

[फ़रवरी १९१५

६—रामायण*

काव्यों के दो बड़े भाग किये जा सकते हैं। एक वह जिसमें केवल कवि ही की कथा हो और दूसरा वह जिसका सम्बन्ध सर्वसाधारण या एक बड़े सम्प्रदाय की कथा से हो। पहली `णी के काव्यों से मतलब उन काव्यों से नहीं जिन्हें सिवा कवि के और कोई समझ ही न सके; क्योंकि यदि ऐसा हो तो वे केवल पागल की बकवासमात्र समझे जायँगे। ऐसे काव्यों से मतलब उन काव्यों से है जिनमें कवि ने अपनी प्रतिभा के बल से निज के सुख-दुःख, निज की कल्पना और निज ही के जीवन के अनुभवों द्वारा सारे मनुष्य-समुदाय के चिरन्तन हृदय-विकारों और हृदय के गुप्त रहस्यों को प्रकट किया हो। दूसरी श्रेणी के काव्य उन कवियों द्वारा रचे जाते हैं जो अपनी रचनाओं द्वारा समग्र देश अथवा समग्र युग के भावों और अनुभवों को प्रकट करके अपने ग्रन्थों को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। इसी प्रकार के कवियों को महाकवि कहना चाहिए। सारा देश, अथवा सारी जाति, उन्हीं के द्वारा बोलती हुई मालूम पड़ती है। ऐसे महाकवियों की रचना किसी व्यक्ति-विशेष की रचना के समान नहीं होती। उनकी रचना वन के उस बृहद् वृक्ष के सदृश होती है जो अपने

* कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक लेख का भावार्थ।

जन्म-स्थान की भूमि को अपनी सुविस्तृत छाया का आश्रय देता है। इसमें सन्देह नहीं कि शकुन्तला और कुमार-सम्भव में कालिदास की निपुणता का अच्छा परिचय मिलता है। परन्तु भारतवर्ष के लिए रामायण और महाभारत, पुनीत जाह्नवी और शिखर-राज हिमालय के सदृश हैं। व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष मात्र हैं।

वास्तव में व्यास और वाल्मीकि किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं। ये नाम तो केवल किसी उद्देश से रख लिये गये हैं। इन दो बड़े ग्रन्थों के—इन दो महाकाव्यों के—जो भारतवर्ष भर में इतने मान्य हैं, रचयिताओं के नाम का कोई पता नहीं; कवि अपने ही काव्यों में बिलकुल छिप से गये हैं।

हमारे देश में रामायण और महाभारत जिस प्रकार के ग्रन्थ हैं, प्राचीन ग्रीस में उसी प्रकार का ग्रन्थ इलियड् था। समस्त ग्रीस में उसका आदर और प्रचार था। कवि होमर ने अपने देश और काल के कण्ठ में अपनी भाषा दान की थी। उसके वाक्य, उसके देश के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँज उठे और चिरकाल तक गूँजते रहे।

किसी आधुनिक काव्य में इतनी व्यापकता नहीं पाई जाती। मिल्टन के "पैराडाइज़ लास्ट" नामक ग्रन्थ में भाषा का उत्कर्ष, प्रयुक्त छन्दों का गाम्भीर्य और रस की गम्भीरता की कमी नहीं। तो भी वह सारे देश का धन नहीं। वह तो केवल पुस्तकालयों के आदर की सामग्री मात्र है।

अतएव प्राचीन काव्यों को एक पृथक् श्रेणी में रखना चाहिए। प्राचीन काल में वे देवताओं और दैत्यों की तरह विशालकाय थे। परन्तु वर्त्तमान समय में उस श्रेणी के काव्य लुप्त हो गये हैं।

प्राचीन आर्य्य-सभ्यता की एक धारा योरप को गई; दूसरी भारत को आई। इन धाराओं से योरप और भारत, दोनों स्थानों, में दो-दो महाकाव्यों की उत्पत्ति हुई। इन्हीं महाकाव्यों के द्वारा उन दोनों धाराओं की सभ्यता के इतिहास और सङ्गीत की रक्षा होती रही है।

मैं विदेशी ठहरा। इसलिए ग्रीस के विषय में मैं यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उसने अपने दोनों महाकाव्यों द्वारा अपनी सारी प्रकृति को प्रकट करने में सफलता प्राप्त की है या नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि भारतवर्ष ने रामायण और महाभारत में कुछ बाक़ी नहीं रक्खा।

इसी कारण शताब्दियों पर शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी, भारतवर्ष में रामायण और महाभारत का वैसा ही प्रचार है। उनका सोता ज़रा भी शुष्क नहीं हुआ। प्रतिदिन, घर-घर में, गाँव-गाँव में उनका पाठ होता है। बनिये की दूकान में और राजा के महल में—सब जगह—उनका समान आदर है। धन्य हैं वे दोनों महाकवि। उनके नाम तो काल के महा-प्रशस्त विस्तार में लुप्त हो गये; किन्तु उनकी वाणी आज तक करोड़ों नर-नारियों के मनों में भक्ति और शान्ति की ऐसी

प्रवल लहरों को उत्थित करती है जो हज़ारों वर्ष की उत्तमोत्तम मिट्टी लाकर आधुनिक भारत के हृदय को उर्व्वरा वनाती है।

इसलिए रामायण और महाभारत को केवल महाकाव्य ही न कहना चाहिए। वे इतिहास भी हैं। वे किसी समय अथवा घटना-विशेष के इतिहास नहीं। वे भारतवर्ष के चिरकालीन इतिहास हैं। अन्य इतिहासों में, समय समय पर, परिवर्तन होता है, परन्तु इन इतिहासों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भारतवर्ष की सारी साधना, आराधना और कल्पना का इतिहास इन दोनों महाकाव्य-रूपी प्रासादों के चिरन्तन सिंहासन पर विराजमान है।

इसी लिए रामायण और महाभारत की समालोचना का आदर्श अन्य काव्यों की समालोचना के आदर्श से भिन्न होना चाहिए। राम का चरित उच्च था या नीच, और लक्ष्मण का चरित भला लगता है या नहीं—केवल इतनी ही आलोचना यथेष्ट नहीं। समालोचक को इस बात पर भी श्रद्धापूर्वक विचार करना चाहिए कि समस्त भारतवर्ष सहस्रों वर्ष से इन महाकाव्यों को किस दृष्टि से देखता आता है।

यहाँ पर हमें इस बात पर विचार करना है कि वह कौन सा सन्देश है जो रामायण द्वारा भारतवर्ष को प्राप्त होता है और वह कौन सा आदर्श है जो रामायण भारतवर्ष के आगे रखती है। साधारणतः लोगों ने समझ रक्खा है कि वीर-रस-प्रधान काव्यों ही का नाम एपिक (Epic) है। इसका

कारण यह है कि जिस देश और जिस काल में वीर रस का गौरव प्रधान रहा हो उस देश और उस काल के महाकाव्य भी अवश्य ही वीर-रस से परिपूर्ण होंगे। रामायण में भी यथेष्ट मार-काट का वर्णन है। राम में भी असाधारण बल है। किन्तु, तो भी, रामायण में जो रस प्रधान है वह वीर रस नहीं। रामायण में शारीरिक बल का प्राधान्य प्रकट नहीं किया गया—युद्ध की घटनाओं ही का वर्णन करना उसका मुख्य विषय नहीं।

यह भी सच नहीं कि इस महाकाव्य में केवल किसी देवता की अवतार-लीलाओं का वर्णन है। कवि वाल्मीकि ने राम को अवतार नहीं माना; उन्होंने राम को मनुष्य ही माना है। हम, यहाँ पर, संक्षेप में यह कह देना चाहते हैं कि यदि कवि ने रामायण में नर-चरित्र के बदले देव-चरित्र का वर्णन किया होता तो रामायण के गौरव का बहुत कुछ ह्रास हो जाता। राम-चरित इसी लिए महिमान्वित है कि वह मनुष्य-चरित से परे नहीं। रामायण में ऐसे सद्‌गुणों से पूर्ण पुरुषों की कथा है जिनसे विभूषित नायक की ज़रूरत वाल्मीकि को अपने काव्य के लिए थी। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में वाल्मीकि नारद से सारे सद्‌गुणों से सम्पन्न नायक का नाम पूछते हैं। उत्तर में नारद कहते हैं—"देवताओं में कोई ऐसा नहीं; मनुष्यों में राम ही सब गुणों से युक्त हैं।" इसलिए रामायण में किसी देवता की कथा नहीं; उसमें नर-कथा ही का प्राधान्य है। किसी देवता ने मनुष्य का अवतार नहीं लिया। राम-नामक

मनुष्य ही अपने सद्‌गुणों के कारण देवता बन गया है। महाकवि ने मनुष्यों के परमादर्श की स्थापना के लिए ही इस महाकाव्य को रचा है। तब से आज तक भारतवासी बड़े आग्रह के साथ मनुष्य के इस आदर्श-चरित्र-वर्णन को पढ़ते हैं।

रामायण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक ही घर की कथा बृहद्रूप से वर्णन की गई है। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में जो धर्म-बन्धन होता है—जिस प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध होता है—वह इसमें इतना ऊँचा दरसाया गया है कि सहज ही में महाकाव्य के अनुरूप कहा जा सकता है। अन्य महाकाव्यों का गौरव उनमें वर्णन किये गये विजय, शत्रुदमन और दो विरोधी पक्षों का आपस में रक्तपात आदि घटनाओं के वर्णन से होता है। परन्तु रामायण की महिमा राम-रावण के युद्ध के कारण नहीं। इस युद्ध-घटना का वर्णन तो केवल राम और सीता के उज्ज्वल दाम्पत्य-प्रेम का दर्शन कराने के लिए है। रामायण में केवल यही दिखाया गया है कि पुत्र का पिता की आज्ञा का पालन, भाई का भाई के लिए आत्म-त्याग, पत्नी की पति के प्रति निष्ठा और राजा का प्रजा के प्रति कर्तव्य कहाँ तक हो सकता है। किसी देश के महाकाव्य में इस प्रकार व्यक्ति-विशेष का घरेलू सम्बन्ध इतना वर्णनीय विषय नहीं समझा गया है।

पूर्वोक्त बातों से केवल कवि ही का परिचय नहीं मिलता, सारे भारतवर्ष का परिचय मिलता है। इससे यह मालूम

होता है कि भारत में गृह और गृह-धर्म कितने महान् समझे जाते थे। इस महाकाव्य से यह बात स्पष्टता-पूर्वक सिद्ध होती है कि हमारे देश में गृहस्थाश्रम का स्थान कितना ऊँचा है। गृहस्थाश्रम हमारे ही सुख और सुभीते के लिए नहीं; गृहस्थाश्रम सारे समाज का धारण करनेवाला है। वह मनुष्य के यथार्थ भावों को दीप्त करता है। वह भारतवर्ष के समाज की नीव है। रामायण उसी गृहस्थाश्रम के महत्त्व को दिखानेवाला महाकाव्य है। कष्ट और वनवास के दुःख दिखाकर रामायण इसी गृहस्थाश्रम को और भी अधिक गौरव दान करती है। कैकेयी और मन्थरा की कुमन्त्रणा ने अयोध्या के राज-गृह को विचलित कर दिया। उस समय जो दुर्भेद-दृढ़ता देखी गई उसका अच्छा दिग्दर्शन रामायण में कराया गया है। शारीरिक शक्ति को नहीं, विजय की अभिलाषा को नहीं, राजनैतिक महत्त्व को नहीं,—किन्तु शान्ति-युक्त गृह-जीवन ही को रामायण ने करुणा के अश्रुओं से स्नान कराकर वीर-रस के सिंहासन पर ला बिठाया है।

विदेशी समालोचक कहा करते हैं कि रामायण में जिन पात्रों का वर्णन है वे अतिप्रकृत हैं। उनको यह उत्तर देना चाहिए कि यह अपने-अपने स्वभाव पर अवलम्बित है। किसी विशेष प्रकृति के लोगों को जो बात अतिप्रकृत जँचती है वही बात दूसरी तरह के लोगों को बिलकुल ही प्राकृत मालूम पड़ती है। हज़ारों वर्ष व्यतीत हो चुके, पर भारतवर्ष की रामायण

में कोई अतिप्रकृत अतिशयोक्ति नहीं दिखाई पड़ी। इसी रामायण की कथा ने भारतवर्ष के आबाल-वृद्ध-वनिता को केवल शिक्षा ही नहीं दी, किन्तु आनन्द भी दिया है। उन्होंने उसे केवल शिरोधार्य ही नहीं किया; किन्तु अपने हृदय में भी स्थान दिया है। उनके लिए वह केवल धर्म-शास्त्र ही नहीं, किन्तु काव्य भी है। राम हमारे लिए देवता हैं। पर साथ ही मनुष्य भी हैं। इसी तरह रामायण पर हमारी भक्ति भी है और साथ ही प्रीति भी है। यदि इस महाकाव्य की कविता भारतवर्ष के लिए किसी दूर वसे हुए कल्पना-प्रसूत लोक की सामग्री होती, अथवा वह हमारे समाज-संसार की सीमा के वाहर की कोई वस्तु होती, तो राम और रामायण के सम्बन्ध में पूर्वोक्त बातें कभी न चरितार्थ होतीं।

यदि कोई विदेशी समालोचक अपने देश के महाकाव्यों के आदर्श को सामने रखकर ऐसे महाकाव्य को अतिप्रकृत कहता है तो उसके देश के मुक़ाबले में भारतवर्ष का एक और विशेषत्व प्रस्फुटित होता है। रामायण में भारतवर्ष ने जो कुछ चाहा वही पाया है। रामायण के सरल अनुष्टुप छन्दों द्वारा भारतवर्ष का हृदय हज़ारों वर्ष से उछल रहा है। हमारे लिए रामायण और महाभारत दोनों तुल्य हैं। पाठक, राम-चरित को केवल कवि का काव्य मत समझिए। भारतवर्ष की रामायण समझकर उसका आदर कीजिए। ऐसा करने ही से आप भारतवर्ष को रामायण द्वारा और रामायण को

भारतवर्ष द्वारा ठीक-ठीक समझ सकेंगे। इस बात को स्मरण रखिए कि किसी गौरवभरी ऐतिहासिक कथा को भारतवर्ष नहीं सुनना चाहता था; उसे मनुष्य के आदर्श-चरित्र से परिपूर्ण कथा सुनने की इच्छा थी। इसी कथा को आज तक वह बड़ी श्रद्धा और बड़े आनन्द से सुनता आ रहा है।

भारतवर्ष परिपूर्णता को बहुत चाहता है। उसका अपमान और अविश्वास उसने कभी नहीं किया। उसको उसने सत्य समझकर स्वीकार किया और उसी में उसे आनन्द भी ख़ूब मिला है। इस परिपूर्णता की आकांक्षा को उद्‌बोधित और तृप्त करके रामायण के कवि ने भारतवर्ष के भक्तिपूर्ण हृदय को चिरकाल के लिए जीत लिया है।

जो जाति असम्पूर्ण सत्य को प्राधान्य देती है, जो अक्लान्त श्रम से भौतिक सत्य की खोज में रहती है, जो जाति कविता को प्रकृति का प्रतिबिम्ब समझती है—वह संसार में अवश्य ही अनेक कार्य्य करती है; वही विशेष रूप से सफल-मनोरथ भी होती है। मानव-जाति उसकी निःसन्देह बहुत ऋणी है। परन्तु, दूसरी तरफ़, जिन्होंने कहा है—"भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः"—जिन्होंने परिपूर्णत्व के परिमाण के मध्य में सब खण्डों का सुख और सब विरोधों की शान्ति प्राप्त करने के लिए साधना की है, उनका ऋण संसार किसी काल में भी नहीं चुका सकता। यदि उनका परिचय विलुप्त हो जाय और उनके उपदेश विस्मृत हो जायँ तो मानव-सभ्यता

धूल और धुएँ से आच्छादित, आदमियों से भरे हुए अपने घरों में दम घुटकर मर जायगी। रामायण सदा से ऐसे ही अखण्ड अमृत-पिपासु लोगों का परिचय हमसे कराती रही है। रामायण में वर्णित भ्रातृभाव, सत्यनिष्ठा, पातिव्रत, प्रभु-भक्ति के विषय में यदि हम अपनी सरल श्रद्धा और आन्तरिक भक्ति की रक्षा कर सकें तो हमारे कारख़ानों—हमारे घरों—की खिड़कियों से महासमुद्र की निर्म्मल वायु भीतर प्रवेश करती रहेंगी।

[अप्रेल १९१२

७—रामायण का प्रभाव*

हज़ारों वर्ष पहले कवि ने तमसा नदी के पवित्र तट पर जो वीणा बजाई थी उसकी मधुर तान भारतीय नर-नारियों के कान में आज भी ध्वनित हो रही है। प्राचीन अयोध्या ध्वंस हो गई; किन्तु हिन्दू-समाज के हृदय में रामायण की अयोध्या नित्य नई के समान चिरकाल से प्रतिष्ठित है। संसार में हिन्दू-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा तब तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा। इस छोटे से लेख में हम इस प्रभाव के दो-एक दृष्टान्त देना चाहते हैं।

छोटा-नागपुर और बिहार में घटवार कहलानेवाले कितने ही ज़मींदार हैं। बहुधा लोग उन्हें टिकैत या ठाकुर कहते हैं। वे अपने को सूर्य्य-वंशी बतलाते हैं। अपने स्वार्थ की कुछ परवा न करके वे सत्य की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं। राजा दशरथ को वे इस विषय में अपना आदर्श मानते हैं। उनका यह काम, वर्त्तमान समय में, बहुत ही प्रशंसनीय कहा जा सकता है। एक नहीं, दो भी नहीं, किन्तु जितने घटवार ज़मींदार हैं सभी अपनी बात के ऐसे धनी हैं कि यदि वे किसी विषय में कोई वचन दे दें तो, आप निश्चिन्त रहें, उन्हें फिर चाहे हानि हो या लाभ—दुख हो या सुख—अपने वचन को

---

* "प्रवासी" में प्रकाशित श्रीमनोरञ्जन गुह ठाकुर के एक बँगला लेख का आशय।

वे कभी न टालेंगे। घटवार के साधारण वचन को रजिस्टरी-शुदा दस्तावेज़ मान लेने में कोई हानि नहीं। यदि अपने वचन के निवाहने से सर्वस्व भी नष्ट होता हो, या न निवाहने से एक रुपये के वदले सौ रुपये का लाभ होता हो, तो भी घटवार अपने वचन से कभी पीछे नहीं हटते। वे सूर्य्य-वंशी हैं। फिर वे किस तरह सत्य-भ्रष्ट हो सकते हैं? जिस वंश के राजा दशरथ ने सत्य की रक्षा करने के लिए अपने प्रियतम पुत्र, नहीं-नहीं प्राणों तक, का विसर्जन कर दिया, उसी वंश में उत्पन्न होकर किस प्रकार वे दिये हुए वचन को मेट सकते हैं? घटवार ज़मींदार प्रायः अपने कर्मचारियों के हाथ के खिलौने होते हैं, परन्तु वचन-रक्षा करते समय उनके सामने कर्मचारियों की कुछ भी नहीं चलती। जब कर्मचारी लोग प्रकट रूप से उनके वचन की पूर्ति होने में वाधा डालने लगते हैं तव वे अपनी वाक्य-रक्षा के लिए गुप्त रीति तक से प्रयत्न करते हैं। जब कर्मचारी उन्हें स्वार्थ-नाश का भय दिखलाते हैं तव वे तुलसीदास की रामायण की इस चौपाई को सुनाकर उन्हें निरुत्तर कर देते हैं—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिँ वरु वचन न जाई॥

हज़ारीवाग़ ज़िले में डोरण्डा नाम की एक ज़मींदारी है। उसके सोलहों आने के मालिक टिकैत दिलीपनारायणसिंह हैं। जब यह ज़मींदारी कोर्ट आव् वार्ड्स के अधीन थी तव एक सज्जन ने उसके अन्तर्गत एक स्थान में अभ्रक की खान ढूँढ़ निकाली। थोड़े ही दिनों में वह स्थान अभ्रक के लिए प्रसिद्ध

हो गया। जब कोर्ट आव् वार्ड्स से निकलकर उक्त ज़मींदारी टिकैत महाशय के हाथ में आई तब उस सज्जन के पट्टे के निर्दिष्ट काल में केवल दो वर्ष बाक़ी रह गये थे। यह देखकर कितने ही अमीर आदमियों के मुँह से लोभ की लार टपकने लगी। उन्होंने चाहा कि दो वर्ष बाद वह खान उन्हीं को मिले। किन्तु टिकैत ने पट्टेदार के जेठे बेटे को यह वचन दे दिया था कि यदि नये बन्दोबस्त के समय तुम ढाई सौ रुपये की सालाना मालगुज़ारी ख़ज़ाने में जमा कर दोगे तो फिर तुम्हीं को, सात वर्ष के लिए, पट्टा दे दिया जायगा। पट्टेदार के प्रतिपक्षियों में से कितने ही लोग डेढ़-डेढ़ हज़ार रुपया तक देने के लिए तैयार हो गये और बङ्गाली मैनेजर महाशय भी, जो पहले पट्टेदार के पक्ष में थे, कुछ कारणों से विपक्षता पर ख़ूब ज़ोर लगाने लगे। फिर लोभ भी थोड़ा नहीं। जिसकी कुल सालाना आमदनी बीस हज़ार रुपये से अधिक न हो उसकी आमदनी में १२५०) की वृद्धि थोड़ी वृद्धि नहीं। उधर कर्मचारी भी अधिक आमदनी ही के पक्ष में थे। ऐसी अवस्था में वचन-रक्षा करना सहज काम नहीं। किन्तु उस उभय-सङ्कट में पड़कर भी, आप जानते हैं, घटवार टिकैत ने क्या किया? एक दिन अपने कर्मचारियों से छिपकर, और केवल एक विश्वास-पात्र आदमी को साथ लेकर, चालीस मील दूर एक गाँव को वे गये और सात वर्ष के लिए, ढाई सौ रुपये सालाना लगान पर, उन्होंने पट्टा लिखा और रजिस्टरी कराकर

उसे पुराने पट्टेदार को दे दिया। कुछ दिनों बाद जब विपक्षियों को यह बात मालूम हुई तब उन्हें बहुत रञ्ज हुआ। पट्टेदार ने टिकैत महाशय को बहुत धन्यवाद दिया। परन्तु जब कभी उनसे उनकी मुलाक़ात होती और इस विषय पर बात-चीत चलती तब वे यही उत्तर देते कि जिसको जो वचन एक बार दे चुके, क्या फिर उससे कभी मुकर सकते हैं? क्योंकि—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिँ बरु बचन न जाई॥

गोविन्दपुर के सुप्रसिद्ध वकील बाबू क्षितिभूषण मुखोपाध्याय झरिया के घटवार राजा के मैनेजर थे। उनके समय में एक बङ्गाली वकील राजा के पास, कई सौ बीघे कोयलेवाली ज़मीन लेने के लिए, आये। राजा ने उन्हें देने का वचन दे दिया। किन्तु इसके कुछ ही समय बाद कलकत्ते की एक प्रसिद्ध कम्पनी उसी ज़मीन के लिए उन बङ्गाली वकील से दो लाख रुपया अधिक देने को तैयार हो गई। क्षितिभूषण बाबू ने जब राजा को इस बात की सूचना दी तब राजा ने बिना ज़रा भी दुःख प्रदर्शित किये ही कह दिया—"वह भूमि तो अमुक बाबू की हो गई"। यद्यपि इस विषय की कोई लिखा-पढ़ी नहीं हुई थी, तथापि केवल इच्छा प्रकट कर देने से राजा साहब ने अपनी बात को इक़रारनामे से भी बढ़कर समझा। क्योंकि—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिँ बरु बचन न जाई॥

एक टिकैत ने किसी महाजन से बहुत सा रुपया उधार लिया। जब उनकी ज़मींदारी कोर्ट आव् वार्ड्स के अधीन

हो गई तब उनके क़र्ज़ की जाँच-पड़ताल की गई। मालूम हुआ कि महाजन ने क़र्ज़ की रक़म बहुत कुछ बढ़ाकर लिख दी थी और सूद भी बहुत अधिक जोड़ा था। इस कारण उसे बहुत से रुपये से हाथ धोना पड़ा। जितनी रक़म वाजिब थी उतनी ही उसे दी गई। परन्तु जब पन्द्रह वर्ष बाद टिकैत महाशय के हाथ फिर ज़मींदारी आई तब उन्होंने उक्त महाजन को बुलाकर उसका बाक़ी रुपया भी कौड़ी-कौड़ी चुका दिया। जिस ऋण को उन्होंने स्वीकार कर लिया था और जिसके अदा करने का उन्होंने वचन दे दिया था उससे उन्हें छुड़ानेवाला क़ानून कौन होता था? वे सत्य-भ्रष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिँ बरु बचन न जाई॥

गिरीडी के श्रीयुक्त तीनकौड़ी वसु महाशय छोटा नागपुर की भिन्न-भिन्न ज़मींदारियों में कोई बीस वर्ष तक प्रधान-प्रधान पदों पर अधिष्ठित रह चुके हैं। उनकी राय है कि घटवार लोग सचमुच ही बड़े सत्य-प्रतिज्ञ हैं। उन्होंने एक उदाहरण भी दिया। वे बोले कि जब मैं श्रीरामपुर के घटवार राजा का मैनेजर था तब राजा ने एक आदमी की भूमि रेहन रखकर उसके बदले में कुछ अधिक रुपया देने का वचन उसे दे दिया। दरियाफ़्त करने पर मालूम हुआ कि उस भूमि के दाम बहुत ही थोड़े हैं और उसके बदले में जितना रुपया राजा ने देने कहा था उसका अल्पांश भी उससे वसूल न होगा। राजा से यथार्थ बात बतलाई गई तो उन्होंने साफ़

कह दिया—अब तो उतना रुपया देना ही होगा; क्योंकि हमने वचन दे दिया है—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिँ बरु वचन न जाई॥

इस प्रकार के और भी अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। घटवार ज़मींदारों की बातों पर विश्वास करके जिसने जितने काम किये हैं उनमें कभी उसने धोखा नहीं खाया। जिन लोगों को घटवार ज़मींदारों से काम पड़ा है वे बिना किसी सङ्कोच के यही कहते हैं कि घटवारों के मुख से निकली हुई बात रजिस्टरीशुदा दस्तावेज़ से कम नहीं। इस दुर्नीति-दलित समय में इस प्रकार वाक्य-रक्षा करना बड़े ही गौरव और सौभाग्य की बात है।

धन्य कवि-गुरु वाल्मीकि, धन्य गोस्वामी तुलसीदास और धन्य तुम्हारी वीणा की अक्षय ध्वनि। धन्य राजा दशरथ और धन्य तुम्हारा सर्वस्वत्याग-पूर्वक सत्य का पालन। इतना समय बीत जाने पर भी जङ्गली और पहाड़ी ग्रामवासी तक तुलसीदास के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर उच्च स्वर से सुना रहे हैं—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिँ बरु बचन न जाई॥

[जूलाई १९१२

८—गीता-रहस्य-विवेचन

सनातन-हिन्दू-धर्म्म के ग्रन्थ-रत्नों में श्रीमद्भगवद्गीता बहुमूल्य रत्न है। वह स्वयं भगवान् की वाणी है; नर को नारायण का उपदेश है; भारत का सार है; मनुष्यों को कर्त्तव्य सिखानेवाला गुरु है। पण्डितों ने कहा है—"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"। सनातन-धर्म्म के विच्छिन्न पन्थों और सम्प्रदायों को गीता एक सी पूज्य है। आज तक इस ग्रन्थ पर संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में हज़ारों टीकायें हो गई हैं। बड़े-बड़े महात्माओं और महापुरुषों ने गीतामृत का आस्वादन किया है। उन लोगों ने उसका कुछ अंश अपनी लेखनी तथा वाणी द्वारा सर्व-साधारण लोगों को भी दिया है। गीता को प्रेम-पूर्वक "माता" कहना, उसकी शरण में जाना और उसके सारामृत का पान करना, यही सनातन धर्मावलम्बियों का कर्त्तव्य है। आज तक अनेक महात्माओं ने गीता का अनुशीलन, अपने-अपने सम्प्रदायों अथवा मतों के अनुसार करके, उसके विभिन्न अर्थ किये हैं। परन्तु गीता पर स्वतन्त्र विचार तथा उसी के आधार पर उसका अर्थ करने का प्रयत्न करने से मालूम होता है कि इन सब टीकाओं और भाष्यों में साम्प्रदायिक अभिमान की मात्रा अधिक है। वर्तमान समय में स्वतन्त्र विचार की बड़ी आवश्यकता है। साम्प्रदायिक

दृष्टि और विचार को एक ओर रखकर, केवल गीता के अन्तरङ्ग आधार पर यह जानना आवश्यक है कि गीता का अर्थ क्या है। ऐसा प्रयत्न विद्वद्वर वाल-गङ्गाधर तिलक महोदय ने "गीता-रहस्य अथवा कर्म्मयोगशास्त्र" नामक ग्रन्थ में किया है। तिलक महोदय की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। "आर्कटिक होम इन दी वेदाज़" और "ओरायन" नामक उनके दो ग्रन्थों से उनकी कीर्त्ति तथा शोधक बुद्धि दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गई है। आपने लगातार ४० वर्षों तक गीता पर विचार किया है। श्रीशङ्कराचार्य्य, श्रीरामानुजाचार्य्य आदि महापुरुषों के साम्प्रदायिक भाष्यों, आधुनिक देशी तथा विदेशी टीकाओं और बौद्ध, जैन आदि भारतीय तथा योरप के भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रों का अच्छी तरह अनुशीलन करके आपने यह गीता-रहस्य लिखा है तथा बड़ी योग्यता से सिद्ध किया है कि गीता-प्रतिपादित धर्म ही संसार के सब धर्मों में श्रेष्ठ है। इस गीता-रहस्य के मराठी संस्करण ने, अल्प ही समय में, सारे महाराष्ट्र में अद्भुत विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इसके हिन्दी-अनुवाद की भी हज़ारों प्रतियाँ एक ही दो महीने में बिक गईं। अब भी हज़ारों गीता-प्रेमियों की माँग आ रही है। इस कारण, सुनते हैं, इसके हिन्दी-अनुवाद का दूसरा संस्करण फिर से मुद्रित हो रहा है। पण्डित माधवराव सप्रे हिन्दी-भाषा-भाषियों के धन्यवाद के पात्र हैं। यह आप ही की कृपा और परिश्रम का फल है जो हम लोग तिलक महाशय के गीता-रहस्य को

अपनी मातृभाषा में पढ़ रहे हैं। उसमें प्रतिपादित भिन्न-भिन्न विषयों की चर्चा और आलोचना होनी चाहिए।

गीता-रहस्य के प्रणेता कहते हैं कि गीता में भगवान् ने अर्जुन को जिस "योग" का उपदेश दिया है वह कर्म्मयोग ही है। महाभारत के शान्ति-पर्व में नारायणीय धर्म का प्रतिपादन किया गया है। वह भी प्रवृत्ति-प्रधान है। गीता के चतुर्थ अध्याय में वर्णित उपदेश-परम्परा और नारायणीय धर्म की उपदेश-परम्परा एक ही है। छठे अध्याय के कुछ स्थानों को छोड़कर गीता में प्राय: सर्वत्र 'योग' शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है। गीता ही में लिखा है—"योग: कर्मसु कौशलम्"। 'सांख्य' और 'योग' इन दोनों मार्गों का वर्णन गीता में किया गया है और कहा गया है कि "संन्यास: कर्मयोगश्च नि:श्रेयसकरावुभौ" अर्थात् ये दोनों मार्ग समान भाव से मोक्ष देनेवाले हैं; पर इनमें भी योग अर्थात् कर्मयोग श्रेष्ठ है—"कर्मयोगो विशिष्यते"। अतएव इसी योग का उपदेश अर्जुन को भगवान् ने किया है। सांख्य और योग, अथवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, इन दो मार्गों में योग या कर्मनिष्ठा औरों के मत से सांख्य या ज्ञाननिष्ठा का साधन है; पर यह मत ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि भगवद्गीता से यह प्रमाणित नहीं होता। गीता में स्पष्ट लिखा है "लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा" अर्थात् निष्ठा दो प्रकार की है। इस दशा में एक को दूसरे का साधन मानना कभी उचित न होगा, क्योंकि फिर वह स्वतन्त्र निष्ठा न रहेगी।

इसलिए ज्ञाननिष्ठा का साधन कर्मनिष्ठा नहीं, किन्तु वह एक स्वतन्त्र निष्ठा है। यदि वह साधन हो तो निष्ठा न कहावेगी। पाँचवें अध्याय में भी लिखा है—"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"। यदि सांख्य का साधन योग होता तो यह बात कभी न कही जाती कि सांख्य से प्राप्त होनेवाला स्थान योग से भी प्राप्त हो सकता है। इससे सांख्य और कर्मयोग की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है और साध्य-साधन-सम्बन्ध की कल्पना निराधार हो जाती है। "एकमपि आस्थितः सम्यक्" (गी० ५—४) से भी यही सिद्ध होता है कि दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। सारांश, जब यह सिद्ध हो गया कि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं, तब यह प्रमाणित करना कि गीता में अर्जुन को कर्मयोग ही का उपदेश दिया गया है कुछ कठिन न होगा। इसका कारण यह नहीं कि अर्जुन अज्ञानी थे, किन्तु कृष्ण ने उनको एक सर्वथा स्वतन्त्र ही मार्ग का—कर्मयोग ही का—उपदेश दिया है।

पुरातन काल ही से सनातनधर्म्म में ज्ञानी पुरुषों के दो मार्ग प्रचलित हैं—"द्वाविमावथ पन्थानौ......"। कुछ ज्ञानी ज्ञान-प्राप्ति के बाद संन्यास ग्रहण करके ज्ञानप्राप्ति ही में तत्पर हो जाते हैं; इसे निवृत्ति-मार्ग या सांख्य कहते हैं। और, कुछ ज्ञानी ज्ञान-प्राप्ति के बाद भी अशक्त रहकर लोक-कल्याणार्थ कर्म किया करते हैं; इसे प्रवृत्ति-मार्ग या योग कहते हैं। शुक, याज्ञवल्क्य आदि प्रथम मार्ग के उदाहरण हैं और

व्यास, वसिष्ठ, जनक, जैगीषव्य आदि दूसरे मार्ग के। भगवद्‌गीता का कर्मयोग ज्ञानमूलक है और उसी को कृष्ण ने अपना मार्ग कहा है तथा अर्जुन को उसी का अनुसरण करने के लिए उपदेश दिया है। द्वितीय अध्याय में "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" कहकर कृष्ण ने योग-मार्ग का वर्णन आरम्भ किया है। गीता में सर्वत्र इसी का प्रतिपादन किया गया है। यह योग सांख्य का साधन नहीं, किन्तु एक स्वतन्त्र मार्ग है और इसी को कृष्ण भगवान् ने अपना निज का योग बताया है। इसी योग के अनुसार "कर्मण्येवाधिकारस्ते" कहा गया है। योग-मार्ग का प्रधान तत्त्व यही है कि ज्ञान-प्राप्ति के बाद फलाशा का त्याग करके, निष्काम बुद्धि से, लोक-कल्याणार्थ सदैव कर्म करते रहना चाहिए। गीता कहती है कि पुण्य-पाप का सम्बन्ध कर्म से नहीं, किन्तु कर्त्ता की बुद्धि से है। इसलिए बुद्धि को शुद्ध करके कर्म करना चाहिए, क्योंकि कर्म्मत्याग करना असम्भव है। इसी से कहा है—"कर्मयोगो विशिष्यते"। इस विशेषता का परिचय देने के पहले गीता के उपक्रम तथा उपसंहार से भी यह जान लेना आवश्यक है कि गीता प्रवृत्ति-पर है या नहीं।

"श्रीमद्भगवद्‌गीता"—इस नाम ही से स्पष्ट दिखाया गया है कि गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह भागवत धर्म ही का—अर्थात् भगवान् के द्वारा प्रवृत्त किये हुए धर्म ही का—उपदेश होना चाहिए। गीता में भगवान् ने

अर्जुन को जो उपदेश दिया है वह कुछ नया नहीं। गीता के चौथे अध्याय के आरम्भ में भगवान् कहते हैं—पहले यही उपदेश मैंने विवस्वान् को, विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। अन्त में भगवान् ने अर्जुन से यह भी कहा है कि अब मैंने तुझे उसी योग का उपदेश दिया है जो बीच में भुला सा दिया गया था। महाभारत के शान्ति-पर्व के अन्त में नारायणीय अथवा भागवत धर्म का जो वर्णन है उसमें ब्रह्मदेव के भिन्न-भिन्न जन्मों में भागवत धर्म की परम्परा के विषय में निरूपण करने के बाद यह कहा गया है कि ब्रह्मदेव के वर्तमान जन्म के त्रेतायुग में नारायणीय अथवा भागवत धर्म की परम्परा इस प्रकार है—

"त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।"

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गीता में दी गई परम्परा और नारायणीय धर्म की परम्परा दोनों एक ही हैं। जब भिन्न-भिन्न दो धर्मों की परम्पराओं में एकता होना असम्भव है तब यही स्पष्ट मालूम होता है कि गीता-धर्म और नारायणीय या भागवत धर्म एक ही होंगे। पर यह बात अनुमान ही पर अवलम्बित नहीं। महाभारत में नारायणीय धर्म के निरूपण में वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा है—

"एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥"

अर्थात् "मैंने तुझसे यह धर्म हरिगीता अर्थात् भगवद्गीता में विधि-सहित संक्षेपतः बतलाया है।" विद्वानों को विदित है कि हरिगीता से भगवद्गीता ही का बोध होता है। उपर्युक्त वर्णन के आगे के अध्याय में वैशम्पायन ने भी यही कहा है—

"समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥"

इससे सिद्ध है कि हरिगीता से भगवद्गीता ही का बोध होता है; और यह भी स्पष्ट है कि नारायणीय धर्म तथा गीता-धर्म दोनों एक ही हैं।

परम्परा और साक्षात् शब्दों से जब यह सिद्ध होता है कि गीता में नारायणीय धर्म ही का प्रतिपादन किया गया है तब गीता-प्रतिपादित धर्म को जानने के लिए यदि नारायणीय या भागवत धर्म देख लिया जाय तो काम चल जायगा। फिर, गीता-प्रतिपादित धर्म आप ही आप ज्ञात हो जायगा। नारायणीय धर्म के वर्णन में लिखा है—

"नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥"

तथा

"प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत्।"

अर्थात् यह नारायणीय धर्म मोक्ष देनेवाला और प्रवृत्ति-प्रधान भी है। इस प्रकार लक्षण बतलाकर इस बात का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि यह धर्म प्रवृत्ति-प्रधान कैसे

है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीता-धर्म प्रवृत्ति-प्रधान है। प्रवृत्ति का यह अर्थ प्रसिद्ध ही है कि संन्यास न लेकर निष्काम बुद्धि से चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म्म, मृत्यु-पर्यन्त, करते रहना चाहिए। अतएव महाभारत से यह सिद्ध है कि गीता में भगवान् ने अर्जुन को प्रवृत्ति-प्रधान धर्म ही का उपदेश दिया है।

आजकल गीता पर जितने भाष्य और जितनी टीकायें उपलब्ध हैं वे सब शङ्कराचार्य्य के वाद की हैं। शङ्कराचार्य्य के पहले भी गीता पर अनेक टीकायें थीं, परन्तु इस समय वे उपलब्ध नहीं। इसलिए हम इस बात का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकते कि उन टीकाओं में गीता का कौन सा अर्थ निश्चित किया गया था। परन्तु शङ्कराचार्य्य ने अपने गीता-भाष्य में गीता की पहली टीकाओं का जो उल्लेख किया है उससे जान पड़ता है कि उनमें गीता का अर्थ ज्ञानकर्म्म-समुच्चयात्मक अर्थात् प्रवृत्ति-प्रधान ही किया गया था—अर्थात् ज्ञानवान् मनुष्य को ज्ञान के साथ ही साथ आमरणान्त स्वधर्मोक्त कर्म भी करना चाहिए। शङ्कराचार्य्य ने अपने गीता-भाष्य के आरम्भ ही में कहा है कि हमें गीता का यह अर्थ मान्य नहीं। इस कारण अपने मतानुसार गीता का अर्थ वतलाने के लिए हमने यह भाष्य लिखा है। परन्तु जान पड़ता है कि शङ्कराचार्य्य के पहले गीता का अर्थ ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक ही किया जाता था। आचार्य्य का यह सिद्धान्त है कि अद्वैत-मत के प्रतिपादन के साथ ही साथ, ज्ञान

और कर्म ये दोनों, प्रकाश और अन्धकार के समान, परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। इसलिए यद्यपि ज्ञान के पहले चित्त की शुद्धता के लिए कर्म करने की आवश्यकता है, तथापि अन्त में पूर्णब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति के लिए सब कर्मों का त्याग करके संन्यास ही लेना चाहिए। और, इसी लिए उन्होंने गीता के ज्ञान-कर्म-समुच्चय के पक्ष का खण्डन करके यह अर्थ किया है कि कर्मयोग ज्ञान का साधन है।

अब, क्षणभर, शङ्कराचार्य्य आदि के किये हुए गीता के अर्थ ही को ठीक न मानकर, हमें स्वतन्त्र रीति से यह देखना चाहिए कि केवल गीता ही से गीता का क्या तात्पर्य निश्चित होता है। किसी भी ग्रन्थ और किसी भी प्रकरण के तात्पर्य का निश्चय करने के लिए मीमांसकों ने सात साधन या लिङ्ग कहे हैं; जैसे—

"उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये"॥

इन्हीं सात साधनों से गीता के भी तात्पर्य का निर्णय करना आवश्यक है। उपक्रम का अर्थ है आरम्भ, और उपसंहार का अन्त। आरम्भ और अन्त, इन दो छोरों के बीच जो ठीक बैठ जाता है वही ग्रन्थ का सरल तात्पर्य है। आरम्भ और अन्त से सरल तात्पर्य का निश्चय हो जाने के बाद, अन्य साधनों का भी यथा-सम्भव उपयोग किया जाता है। इसलिए हम पहले उपक्रमोपसंहार हीं का उपयोग करते हैं। भगवान् ने अर्जुन को गीता सुनाई। कब और क्यों? जब पाण्डवों को

कौरवों से अपने राज्य का भोग्य अंश प्राप्त न हुआ तब दोनों दलों ने लड़ाई की ठानी। कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों ओर की सेनायें एकत्र हुईं। युद्ध का समय आ गया। दोनों दल सज्जित हुए। एक दूसरे पर आक्रमण करने ही वाला था कि इतने में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच से ले चलो; देखें, दुष्ट दुर्योधन के पक्ष में मिलकर कौन-कौन योद्धा युद्ध के लिए तैयार हैं।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ दोनों दलों के बीच में लाकर खड़ा कर दिया। अर्जुन उन योद्धाओं को देखने लगे जो उनके विपक्षियों का पक्ष अङ्गीकार करके उनके विरुद्ध लड़ने को उद्यत थे। उस समय उन्हें वहाँ वृद्ध पितामह, गुरु द्रोणाचार्य्य, गुरु-पुत्र, बन्धु-बान्धव, सुहृद्, चचा, मामा इत्यादि सभी स्वजन देख पड़े। उन्हें देखते ही अर्जुन के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि राज्य की प्राप्ति के लिए अपने आप्तों का ख़ून बहाकर गुरु-हत्या और कुलक्षय के समान महान् पातक करने पड़ेंगे। बस, इतना विचार उत्पन्न होते ही उनका चित्त एकदम उद्विग्न हो उठा। एक ओर तो क्षात्र धर्म उनसे कह रहा था कि युद्ध करो; और दूसरी ओर पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बन्धुप्रेम उन्हें क्षात्र धर्म के पालन से परावृत्त कर रहे थे। यदि युद्ध करूँ तो स्वजनों ही से करना होगा और घोर पातकों का बोझ सिर पर उठाना पड़ेगा; यदि न करूँ तो क्षात्र धर्म से परावृत्त हो जाने के कारण नरक में जाना पड़ेगा—इस प्रकार अर्जुन की दशा साँप-

छुछूँदर की सी हो गई। इस आपत्ति-पाश के कारण अर्जुन का सारा शरीर काँपने लगा, मुँह सूख गया, धनुष हाथ से गिर पड़ा, शरीर रोमाञ्चित हो आया और अस्वस्थ होकर वे यह कहते हुए नीचे बैठ गये कि यदि दुर्योधन आदि मुझे अशस्त्र जानकर मार डालें तो भी मैं युद्ध न करूँगा। उनकी यह दशा देखकर भगवान् ने कहा—"अर्जुन, तुम्हें यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ? इस भीरुता को छोड़ दो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ"। परन्तु अर्जुन ने एक न मानी। वे युक्तिवाद करने लगे—पितामह भीष्म आदि को मारकर उनके रक्त से मिश्रित भोग भोगने की अपेक्षा भीख माँगना क्या बुरा है? क्षात्र धर्म भले ही अच्छा हो, परन्तु यदि उसके कारण स्वजनों का वध करना पड़े तो ऐसे क्षात्र धर्म को नमस्कार! ऐसे ही ऐसे अनेक विचारों से अर्जुन का सिर चकराने लगा। तब वे धर्म-मूढ़ होकर श्रीकृष्ण भगवान् से "न योत्स्ये" यह कहकर चुप हो गये। भगवान् ने उन्हें युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए गीता का उपदेश किया। इस तरह वे उन्हें ठीक मार्ग पर ले आये। यद्यपि युद्ध करना अर्जुन का कर्त्तव्य था, तथापि भीष्म आदि के वध से होनेवाले पापों का स्मरण करके, डर के मारे, वे कर्त्तव्य-पराङ्मुख हो रहे थे। उन्हें गीता का उपदेश करके भगवान् ने युद्ध करने के लिए राज़ी कर लिया। इतना ही नहीं; अन्त में अर्जुन से उन्होंने ऐसा वचन भी ले लिया कि "मैं आपके इच्छानुसार युद्ध करता हूँ।"

यही गीता का उपक्रम और उपसंहार है। इस उपक्रमोपसंहार से यह बात सिद्ध होती है कि गीता का प्रधान उद्देश कर्म में प्रवृत्त करना ही है अब यदि 'फल' पर ध्यान दिया जाय तो यह देखना पड़ेगा कि अर्जुन ने सचमुच युद्ध किया है। इससे भी यही निश्चित होता है कि गीता में अर्जुन को युद्ध करने के लिए ही उपदेश दिया गया है।

अब "अभ्यास" साधन का उपयोग करके गीता का तात्पर्यार्थ जानना चाहिए। गीतोपदेश करते समय, कई स्थानों पर, कर्म करने के प्रेरक अनेक कारण बतलाकर, आगे 'तस्मात्' (अर्थात् 'इसलिए') शब्द जोड़कर 'तस्माद्युध्यस्व भारत', 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय', 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर', 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्', 'मामनुस्मर युध्य च', 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इत्यादि रीति से सारे गीता-शास्त्र में वारम्वार कर्म करने ही के लिए भगवान् ने अर्जुन को उपदेश किया है। और, अन्त में, अठारहवें अध्याय में, भगवान् ने अपनी यह उत्तम तथा निश्चित राय दी है कि 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च—कर्त्तव्यानि'। इस अभ्यास-लिङ्ग से भी यही निश्चित होता है कि गीता कर्म करने की प्रेरणा करती है, अर्थात् वह प्रवृत्ति-प्रधान या कर्म-प्रधान ही है। जब अर्जुन इस कल्पना से भयभीत हो गये थे कि युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि का वध करना पड़ेगा, अतएव पाप होगा, तव भगवान् ने उन्हें यही बतलाया है कि विना पाप-स्पर्श हुए किस प्रकार

कर्म करना चाहिए। इस उपदेश का रहस्य क्या है? इसे जानने के लिए यही देखना चाहिए कि पाप से बचकर कर्म किस प्रकार किया जाय। भगवान् ने अर्जुन को कौन सा ऐसा मार्ग बतलाया है जिससे कर्म करके भी कर्म का पाप या बन्धन-प्राप्ति नहीं होती।

परन्तु इसके पहले गीता के 'कर्म' शब्द का अर्थ भी जान लेना चाहिए। कर्म शब्द का अर्थ है—करना, व्यापार या हलचल। हमारे शास्त्रों में कर्म का इतना व्यापक अर्थ नहीं लिया गया। उसका उपयोग श्रौत, स्मार्त और पौराणिक कर्म ही के लिए किया गया है। परन्तु गीता में पश्यन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, इत्यादि सभी व्यापार कर्म के अन्तर्गत माने गये हैं। यज्ञचक्र का वर्णन करते समय गीता में कर्म शब्द की व्यापकता स्पष्ट रीति से बतलाई गई है। उसका विस्तृत विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। उस व्यापक अर्थ के अनुसार, इस संसार में क्षण भर जीना और मरना भी, एक प्रकार का कर्म ही कहा जायगा। तात्पर्य्य यह कि गीता में 'कर्म' शब्द का अर्थ सङ्कुचित नहीं, अत्यन्त व्यापक है।

कर्म की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का शब्द 'योग' है। आजकल इस शब्द का प्रचलित अर्थ केवल पातञ्जल-योग ही माना जाता है। परन्तु यह अर्थ भी सङ्कुचित है। गीता के केवल छठे अध्याय में उस अर्थ का कहीं कहीं उपयोग किया

गया है। बाक़ी सब जगह यह अर्थ विवक्षित नहीं है। योग-शब्द में 'युज्' धातु है, जिसका अर्थ जोड़, सङ्गति, मेल इत्यादि होता है। इसके अतिरिक्त इस शब्द के अर्थ उपाय, साधन, युक्ति, कर्म इत्यादि भी होते हैं। यह सच है कि योग शब्द का अर्थ युक्ति अथवा साधन होता है; परन्तु यह बतलाने के लिए कि गीता में कौन सी विशेष युक्ति इष्ट है, उसी में योग शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"योगः कर्मसु कौशलम्"। कर्म करने की कुशलता इसी बात में है कि बन्धन में न पड़कर कर्म किये जायँ। इसी का नाम योग है। गीता में योग शब्द पहले-पहल दूसरे अध्याय में वहाँ आया है जहाँ भगवान् ने "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" कहा है। अर्थात् वहाँ भगवान् अर्जुन से यह कहते हैं कि तुम्हें पहले सांख्य-मार्ग के अनुसार इस बात की उपपत्ति बतला दी गई कि युद्ध क्यों करना चाहिए। अब योग-मार्ग के अनुसार इसकी उपपत्ति सुनो। इसके बाद यह दिखलाया गया है कि यज्ञादिकों में लिप्त रहनेवालों की बुद्धि फलाशा से किस प्रकार व्यग्र हो जाती है। आगे चलकर यह उपदेश है कि बुद्धि को इस प्रकार व्यग्र न होने दो, आसक्ति का त्याग करो, कर्म के त्याग का हठ न करो। फिर जब भगवान् ने कहा है कि "योगस्थः कुरु कर्माणि", तब वहीं पर योग-शब्द का स्पष्ट अर्थ भी इस प्रकार किया है कि "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" अर्थात् सिद्धि और असिद्धि के विषय में

समत्व-बुद्धि धारण करना ही योग है। इसके बाद यह निश्चय करके कि फलाशा से कर्म करने की अपेक्षा समत्व-बुद्धि का योग ही श्रेष्ठ है, भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि बुद्धि की समता हो जाने पर कर्त्ता को कर्म के पुण्य-पाप का स्पर्श नहीं होता; इसलिए तुम योग की प्राप्ति कर लो। और, फिर, एक बार योग का लक्षण इस प्रकार बताया है—"योगः कर्मसु कौशलम्।" इससे यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जाती है कि गीता में, पाप का स्पर्श न होते हुए, कर्म करने की समत्व-बुद्धि-रूप जो विशेष युक्ति पहले बताई गई है उसी का नाम 'कुशलता' है और उसी कुशलता अर्थात् युक्ति से कर्म करना गीता का 'योग' है। यही योग भगवान् ने अर्जुन को बतलाया है और अर्जुन ने भी उसी अर्थ को "योऽयं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन" कहकर स्पष्ट कर दिया है।

पहले कहा जा चुका है कि ज्ञानी पुरुषों के बर्ताव के विषय में शङ्कराचार्य्य के भी पहले से वैदिक धर्म में दो मार्ग प्रचलित हैं। उनमें से एक यह है कि ज्ञान-प्राप्ति होने पर स्वरूपतः सब कर्मों का त्याग कर दिया जाय; और दूसरा यह कि ज्ञान-प्राप्ति होने पर भी कर्मों का त्याग न किया जाय; किन्तु इस युक्ति से मनुष्य उन्हें मृत्यु-पर्यन्त करता रहे जिससे कर्त्ता को उनका पाप-पुण्य स्पर्श न करे। इन्हीं दो मार्गों के लिए गीता में 'संन्यास' और 'कर्मयोग' अथवा 'सांख्य' और 'योग' संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। इन्हीं दो मार्गों को क्रम

से ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा भी कहते हैं। उपनिषदों में केवल ज्ञाननिष्ठा ही का अधिक विवेचन किया गया है; परन्तु भगवद्-गीता में ब्रह्मविद्यान्तर्गत कर्मनिष्ठा की प्रधानता का वर्णन है। यही गीता की अपूर्वता और विशेषता है। भगवान् ने अर्जुन को जिस योग का उपदेश किया है वह उक्त दो मार्गों में से 'योग' अर्थात् कर्मयोग है।

महाभारत में योग की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम्"। नारायणीय धर्म में भी 'सांख्य' और 'योग' शब्दों का उपयोग उपर्युक्त अर्थ ही में अनेक बार किया गया है। अर्थात् यह बात पूर्णतः सिद्ध होती है कि गीता में 'योग' शब्द (छठे अध्याय में कहीं-कहीं छोड़कर) कर्मयोग के अर्थ ही में उपयुक्त हुआ है। पहले भगवान् ने योग—कर्मयोग—विवस्वान् आदि को बतलाया और अब गीतोपदेश करते समय वे स्वयं ही कहते हैं कि—"स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः"। नारायणीय धर्म में 'योग' शब्द के लिए कर्म-योग या 'प्रवृत्तिलक्षणो योगः' लिखा गया है। नारायणीय धर्म और गीताधर्म एक ही है। गीता के चतुर्थ अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि योग से जिसने कर्म का त्याग किया है और ज्ञान से संशय को जिसने दूर कर दिया है वह आत्मज्ञानी कर्मबद्ध नहीं हो सकता—"तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत"—अर्थात् अज्ञानोत्पन्न संशय को

ज्ञानरूपी तलवार से काटकर योग (कर्मयोग) का अवलम्बन करो और (युद्ध के लिए) उठो। अतएव भगवान् ने अर्जुन को ज्ञानमूलक कर्मयोग ही का उपदेश किया है।

जब सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा—"मैंने श्रीभगवान् और महात्मा अर्जुन का अद्भुत संवाद सुना" तब उन्होंने कहा कि "योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्"। सारांश, उन्होंने भी भगवान् के उपदेश को 'योग' ही कहा है। यह इस बात का प्रमाण है कि भगवान् ने अर्जुन को योग ही बतलाया था; और योग का अर्थ कर्मयोग ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में यह अत्यन्त प्राचीन सङ्कल्प पाया जाता है—"श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे" इत्यादि। योग शब्द का अर्थ कर्म-योग निश्चित हो जाने से, यहाँ 'योगशास्त्र' पद से यही सूचित होता है कि गीता कर्मयोग-शास्त्र ही है। और 'ब्रह्मविद्यायां' पद से मालूम होता है कि वह ब्रह्मज्ञान-मूलक है। अतएव यह हर तरह प्रकट होता है कि गीता में 'योग' शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है और भगवान् ने अर्जुन को उसी का उपदेश किया है।

अच्छा तो अब यह देखना चाहिए कि गीता में इस मार्ग का किस प्रकार उल्लेख किया गया है, पूर्व आचार्यों ने इसका कैसा अर्थ किया है और इसका वास्तविक अर्थ क्या है। दूसरे अध्याय में, 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' श्लोक से 'एषा तेऽभिहिता

सांख्ये बुद्धिः' श्लोक तक, सांख्य-बुद्धि का वर्णन है, और, आगे 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' कहकर कर्मयोग का आरम्भ किया गया है। इसका सरल अर्थ यह है कि "तुम्हें सांख्य की यह उपपत्ति मैंने बतलाई, अब योग की सुनो।" अर्थात् ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी श्रीशङ्कराचार्य्य से लगाकर प्रायः सभी टीकाकार कहते हैं, कि "अब भगवान् अर्जुन को उस सांख्य-बुद्धि का साधनभूत उपाय अर्थात् कर्म-योग बतलाते हैं" और यह अर्थ करते हैं कि भगवान् ने अर्जुन को अज्ञानी समझकर सांख्य-बुद्धि का साधन योग—कर्मयोग—मार्ग बतलाया है। पर यह अर्थ कैसे हो सकता है। क्या भगवान् ने अर्जुन से कहीं कहा है कि मैं तुम्हें इस सांख्य का साधन-योग बतलाता हूँ? यदि उन्हें यह कहना ही था तो उन्हें रोक कौन सकता था? यदि अर्जुन को अज्ञानी जानकर भगवान् उन्हें कर्म-योग बतलाना चाहते तो वे स्पष्ट कह सकते थे कि तू अब तक अज्ञानी है; इसलिए तू कर्म-योग ही का आचरण कर। ऐसा कहने में क्या उन्हें कुछ भय था? परन्तु ऐसी कल्पना के लिए कोई आधार नहीं। टीकाकारों ने स्वयं अपने ही मन से पहले तो यह कल्पना कर ली कि 'योग' सांख्य का साधन है; और फिर ज्योंही उन्होंने 'योग' शब्द देखा त्योंही उसके साथ 'साधनभूत' अर्थ जोड़ दिया! इस कारण, 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' से लगाकर दूसरे अध्याय की समाप्ति तक यद्यपि एक ही योग का

वर्णन है, तथापि टीकाकारों को उसके अनेक टुकड़े करने पड़े हैं और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का अर्थ इस प्रकार करना पड़ा है कि 'तू अज्ञानी है, इस कारण तुझे कर्म ही करने का अधिकार है।' उन्होंने एक बात और भी की है। उन्होंने लिखा है कि अर्जुन ने यह अप्रासङ्गिक प्रश्न किया कि—'स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा ?' वस्तुतः "बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" से योग-बुद्धि अर्थात् कर्म-योग का आरम्भ किया गया है। इस योग के अनुसार ही "कर्मण्येवाधिकारस्ते" और उसके आगे "योगस्थः कुरु कर्माणि" उपदेश है। इसके बाद इस योग की व्याख्या की गई और फिर कहा गया कि जब वेद-वाक्यों में फँसी हुई तेरी बुद्धि स्थिर होगी तब तुझे यह योग—समत्व योग—प्राप्त होगा। अर्थात् तभी अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ अर्थात् स्थिर-बुद्धि के विषय में प्रश्न किया है। मतलब यह कि "सांख्ये बुद्धिः" के आगे की "योगे बुद्धिः" को सांख्य-बुद्धि का साधन मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तीसरे अध्याय में अर्जुन के प्रश्न पर भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिया है कि—

"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञान-योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥"

यदि 'पुरा' शब्द का अर्थ 'पिछले अध्याय में' लिया जाय तो दूसरे अध्याय में सांख्य-बुद्धि और योग-बुद्धि का वर्णन किया ही गया है। और, यदि 'पुरा' शब्द का अर्थ 'सृष्टि के

आरम्भ में' लिया जाय तो यह बात प्रकट ही है कि सांख्य और योग का उपदेश अनुक्रम से सनत्कुमार आदि तथा हिरण्य-गर्भ आदि को किया गया था। इनके अवलम्बन-कर्त्ता ज्ञान-योगी और कर्म-योगी भी भिन्न-भिन्न निष्ठावाले कहलाते हैं। 'निष्ठा' शब्द का अर्थ अन्तिम स्थिति या अवस्था है। परन्तु गीता में आयु बिताने का वही मार्ग विवक्षित है जिसके अनु-सार जीवन बिताने से अन्त में मोक्ष मिलता है। श्रीशङ्कराचार्य ने भी निष्ठा का अर्थ 'अनुष्ठेय तात्पर्य' किया है। ज्ञान हो जाने पर सारे कर्मों को छोड़कर ज्ञान ही में मस्त रहना ज्ञान-निष्ठा है; और ज्ञान हो जाने पर भी कर्म करते रहने का नाम कर्म-निष्ठा है। उक्त श्लोक में 'द्विविधा निष्ठा' पद स्पष्ट है, जिससे दोनों ही मार्ग स्वतन्त्र सिद्ध होते हैं। अतएव टीका-कारों का किया हुआ यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता कि ज्ञाननिष्ठा का अधिकारी होने के पहले उसकी प्राप्ति का साधनभूत योग अथवा कर्मनिष्ठा है, और जो तब तक ज्ञान के पात्र नहीं वे कर्म-योगी हैं। वास्तव में दोनों निष्ठायें स्वतन्त्र हैं। गीता में एक का साधन दूसरी को मानने के लिए कहीं आज्ञा नहीं। यदि ज्ञान का साधन योग होता तो द्विविधा निष्ठा कहने की ज़रूरत ही न थी। फिर, एक ही ज्ञाननिष्ठा का उल्लेख किया जाता, क्योंकि साधनों को निष्ठा में कहीं गिनाया ही नहीं। साधन यदि निष्ठा हो सकते हैं तो दो ही क्यों, हज़ारों निष्ठायें हो जायँगी। साधन एक या दो

ही नहीं; वे तो अनेक हैं। तब साध्य को भी निष्ठा और साधन को भी निष्ठा कह डालने से साध्य साधन की योग्यता में भेद ही न रह जायगा। ऐसा कदापि नहीं हो सकता। वास्तव में गीता के उक्त श्लोक का यह अर्थ नहीं कि कर्म-योगियों की योगनिष्ठा, ज्ञानयोगियों की सांख्यनिष्ठा का साधन है। 'द्विविधा' का मुख्य अर्थ स्थिर रखकर दो स्वतन्त्र निष्ठायें मानना ही उचित है।

चतुर्थ अध्याय के अन्त में जब भगवान् ने योगावलम्बन के विषय में यह उपदेश दिया है—

> "तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
> छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥"

तब पाँचवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने एक ही मार्ग पूछा—

> "संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
> यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥"

इसका उत्तर भगवान् ने अर्जुन को इस प्रकार देकर एक ही निश्चित मार्ग बतलाया—

> "संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
> तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥"

मोक्षदायक यद्यपि दोनों मार्ग हैं, तथापि कर्मयोग की योग्यता विशेष है। कहने की आवश्यकता नहीं, यहाँ संन्यास का अर्थ सांख्य और योग का अर्थ कर्म-योग है। संन्यास

और कर्म-योग (सांख्य और योग) यदि पृथक् न होते, और टीकाकारों के मतानुसार योग अर्थात् कर्म-योग संन्यास का साधन (सांख्य का साधन) होता, तो भगवान् के 'निःश्रेयस-करावुभौ' इस उत्तर में अनौचित्य आ जाता। और, यदि दो स्वतन्त्र मार्ग पहले ही से प्रचलित न होते तो—"यच्छ्रेय एतयोरेकं" इस प्रश्न का उत्थान ही न होता। अर्थात् दोनों मार्गों को स्वतन्त्र ही मानना होगा।

टीकाकारों को इस बात का पक्का निश्चय कर लेने से कि एक दूसरे का साधन है, बड़ी दिक्कत में फँसना पड़ा है। इसी से वे किसी तरह अपने अर्थ की सङ्गति लगाने के लिए बाध्य हुए हैं। इसी से उन्हें कहना पड़ा है कि अर्जुन को अज्ञानी देखकर ही भगवान् ने वैसा कहा—अर्थात् एक दूसरे का साधन है। पर इस जोड़-तोड़ से भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि श्लोक के उत्तरार्द्ध में—तयोस्तु कर्मसंन्यासा-त्कर्मयोगो विशिष्यते—कर्म-योग की श्रेष्ठता स्पष्ट बतलाई गई है। जब इस प्रकार टीकाकारों को साध्य की अपेक्षा साधन ही को श्रेष्ठ मानना पड़ा तब उन्होंने 'विशिष्यते' पद को अर्थवाद—केवल स्तुति—कह दिया। परन्तु गीता पर ध्यान-पूर्वक विचार करनेवालों को इस 'विशिष्यते' पद में अर्थवाद नहीं देख पड़ता। अच्छा, यदि कोई पूछे कि इसमें अर्थवाद है ही क्यों ? तो इसका उत्तर कुछ टीकाकार यह देते हैं कि अज्ञानी अर्जुन को कर्म करने के लिए उत्साहित करना था।

इस कारण भगवान् ने कर्म-योग की तारीफ़ कर दी। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् ने अपने प्यारे भक्त को उपदेश देते समय धोखे में डाला। यदि अर्जुन को सिर्फ़ इसी कारण कर्म करने के लिए उत्साहित करना था कि वह अज्ञानी है, तो भगवान् ने उनसे यह बात साफ़-साफ़ क्यों न कह दी। छिपाने की ज़रूरत क्या थी ?

पूर्वोक्त श्लोक को खींच-खाँचकर उसका वैसा अर्थ करने के लिए कुछ भी आधार नहीं। सच बात तो यह है कि गीता के अनुसार संन्यास और कर्मयोग—सांख्य और योग—दोनों ही स्वतन्त्र और एक सी मोक्षदायक निष्ठायें हैं; परन्तु कर्म-योग में कुछ विशेषता है। इसी से भगवान् ने वही मार्ग अर्जुन को बतलाया। इस मार्ग की विशेषता, आगे चलकर, गीता ही से बतलाई जायगी।

इसी अध्याय में आगे स्पष्ट लिखा है—"एकमपि आस्थितः सम्यक्" (यदि एक का भी भली भाँति आचरण करे तो) इससे भी सिद्ध होता है कि सांख्य का साधन योग नहीं, किन्तु वह स्वतन्त्र है। आगे दोनों मार्गों की भिन्नता और भी स्पष्ट कर दी गई है—यथा, "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"—जो पद सांख्यों को मिलता है वहीं योगियों को भी मिलता है। सारांश, गीता में सांख्य और योग, अथवा ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा, दोनों मार्ग स्वतन्त्र और एक से मोक्षदायक माने गये हैं; हाँ, कर्म-योग में कुछ विशेषता है।

इसी से भगवान् ने अर्जुन को उसी का उपदेश किया है। गीता का प्रधान तात्पर्य यही है।

अच्छा तो कर्म-योग में विशेषता क्या है और क्यों है? इसका उत्तर देने के पहले, संक्षेप में, यह बतला देना आवश्यक है कि गीता-प्रतिपादित निष्ठायें कुछ नई नहीं। वे प्राचीन समय से प्रचलित हैं और वही वैदिक धर्म के दो सनातन मार्ग हैं।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा को सृष्टि रचने की आज्ञा दी। ब्रह्मा से मरीचि आदि सात मानस पुत्र हुए। उन्होंने सृष्टि-क्रम को अच्छी तरह जारी रखने के लिए योग अर्थात् कर्ममय प्रवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन किया। दूसरे मानस पुत्रों ने (सनत्कुमार आदि ने) उत्पन्न होते ही निवृत्तिमार्ग अर्थात् संन्यास-मार्ग का अवलम्बन किया। शान्ति-पर्व में इस प्रकार दोनों मार्गों की उत्पत्ति बतलाकर स्पष्ट कह दिया गया है कि मोक्ष की दृष्टि से ये दोनों मार्ग समान बलवाले, अर्थात् वासुदेव रूपी एक ही परमेश्वर की प्राप्ति करा देनेवाले—भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र हैं। वहाँ यह भेद नहीं किया गया कि योग के मूल-प्रवर्तक हिरण्यगर्भ एवं सांख्य के कपिल हैं; और न यहीं कहीं बतलाया गया कि आगे हिरण्यगर्भ ने कर्म्मों का त्याग कर दिया, प्रत्युत सृष्टि-चक्र का सिलसिला अच्छी तरह जारी रखने के लिए देवताओं से यह स्पष्ट कह दिया गया है कि कर्म करते जाओ। इससे सिद्ध हुआ कि सांख्य और योग दोनों मार्ग मूल से ही स्वतन्त्र हैं।

शुकानुप्रश्न में—

"द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषितः ॥"

यह श्लोक गीता के "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" की जोड़ का है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और पहले ही से स्वतन्त्रतापूर्वक—एक दूसरे के साधन के रूप में नहीं—चले आ रहे हैं। दोनों मार्गों से गये हुए महात्माओं के उदाहरण भी हैं; जैसे वसिष्ठ, जनक, व्यास, जैगीषव्य आदि योग (कर्मयोग) निष्ठावाले हैं; और शुकाचार्य्य, याज्ञवल्क्य आदि संन्यास निष्ठावाले।

उपनिषदों में मुख्य करके सांख्य या ज्ञानयोग ही का विचार है। यद्यपि उनमें योग (कर्म-योग) का वर्णन नहीं तथापि कुछ स्थानों में, जैसे ईशावास्य में, इसी कर्मयोग, अर्थात् ज्ञानमूलक कर्मयोग, का विवेचन है। वहाँ "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" का प्रतिपादन करके "विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह"—इस प्रकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय का वर्णन है। शङ्कराचार्य ने इस उपनिषद् के व्याख्यान में इन दोनों मतों का खुलासा भिन्न-भिन्न अधिकारी मानकर किया है और विद्या तथा अविद्या का अर्थ भी विभिन्न ही किया है। परन्तु उनकी यह बात समझ में नहीं आती। यथार्थ में ज्ञान-कर्म-समुच्चय का प्रतिपादन ही इस उपनिषद् में है और इसका "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" गीता के "असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर" के समान ही है। इसी

तरह "न कर्म लिप्यते नरे" भी गीता के "लिप्यते न स पापेन" के समान है। इससे सिद्ध है कि ईशावास्य में भी वही उपदेश है जो गीता में है।

छान्दोग्योपनिषद् के अन्तिम प्रपाठक से भी ब्रह्म-विद्या-सम्प्रदाय का आरम्भ—"एतद्धै ब्रह्मा प्रजापतये"—इस प्रकार करके, इसके अनन्तर परम्परा बतलाई गई है। वहाँ—"कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः धार्मिकान् विदधत्"—इत्यादि कहकर जो यह प्रतिपादन किया गया है कि "स खलु प्रवर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते"—उसका सम्बन्ध कर्मयोग अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग ही से है। वहाँ संन्यास का तो नाम ही नहीं।

ब्रह्म-विद्या-सम्प्रदाय को प्रवर्तक मानकर जो परम्परा दी हुई है उसमें भी कर्म करते रहनेवाले ही अनेक देख पड़ते हैं। व्यासदेव ने शुक को—

> "एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
> ज्ञानवा नेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥"

इस ज्ञान-युक्त कर्म ही का उपदेश किया है और इसी से सिद्धि की प्राप्ति बतलाई है। इस प्रकार वहाँ भी प्रवृत्ति-मार्ग ही का प्रतिपादन है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्मृतियों के कर्मत्याग-रूपी चतुर्थ आश्रम की बड़ाई है, पर उसके साथ ही वैकल्पिक रीति से जनक आदि का ज्ञान-युक्त कर्मयोग भी वर्णित है। स्मृतियों में आद्य मनुस्मृति के छठे अध्याय में कहा गया है कि क्रमशः

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ को पार करके मनुष्य कर्मत्याग रूप चतुर्थ आश्रम ग्रहण करे। किन्तु जब यति-धर्म का निरूपण समाप्त हो गया तब यह प्रस्तावना की गई कि—"यह यतियों अर्थात् संन्यासियों का धर्म हुआ; अब मैं वेद-संन्यासियों का कर्मयोग बतलाता हूँ"। इसके आगे गार्हस्थ्य-धर्म की श्रेष्ठता का वर्णन करके संन्यास की वैकल्पिक निष्काम-गार्हस्थ-वृत्ति के कर्म-योग का वर्णन है। आगे बारहवें अध्याय में, इसी का नाम "वैदिक कर्मयोग" बतलाकर लिखा गया है कि यह मार्ग भी चतुर्थ आश्रम की तरह मोक्षदायक है। अन्यान्य स्मृतियों और धर्मसूत्रों में भी इस मार्ग का वर्णन है; पर इस छोटे से निबन्ध में उन सबका समावेश नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मसूत्र उपनिषदों ही के विचारों के अनुयायी हैं। उनमें यद्यपि इस कर्म-योग का विचार नहीं किया गया, सांख्य ही का विचार किया गया है, तथापि उपनिषदों में ईशावास्य के समान ब्रह्मसूत्रों में भी 'स्तुतयेऽनुमतिर्वा'—यह विकल्प करके कर्म करने की अनुमति दी गई है। सिद्धान्त-पक्ष का 'तुल्यं तु दर्शनं' सूत्र भी कर्म-योग की तुल्यता दिखलानेवाला है। इसके अतिरिक्त—'विहितत्त्वाच्च आश्रमकर्मापि' इस सूत्र का अर्थ भी कर्म-योग-प्रधान किया जा सकता है। 'यावदधिकारम्' सूत्र में अधिकारियों के लिए कर्म्मों का उपदेश तो है ही; प्रश्न केवल यही रह जाता है कि अधिकारी हैं कौन? स्मरण रहे, ब्रह्मसूत्रों में कर्म-योग का विचार न रहने पर भी कुछ सूचनार्थ उस विषय

की दृग्गोचर होती हैं। ब्रह्मसूत्रों का विषय तो केवल उपनिषदों का विचार करना है। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों में सांख्य या ज्ञान का विचार है। उनमें योग-मार्ग विषयक यह विचार नहीं किया गया कि ज्ञानी पुरुष को जगत् के कर्म क्यों और किस प्रकार करने चाहिएँ। यह विचार, अर्थात् कर्म-योग का विचार, गीता में किया गया है; और यही गीता की अपूर्वता है। इसी से गीता को योगशास्त्र अथवा कर्मयोग-शास्त्र कहते हैं।

इस उपपादन से यह बात ध्यान में आ जायगी कि ये दोनों ज्ञान-योग और कर्म-योग—मोक्ष के स्वतन्त्र मार्ग हैं; इनमें साध्य-साधन-भाव नहीं। महत्त्व की बात यही है। जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि गीता में अर्जुन को जो योग बतलाया गया है वह कर्म-योग ही है, और वह ज्ञान-योग का साधन नहीं, किन्तु स्वतन्त्र एवं ज्ञान-योग के ही समान मोक्षदायक है, तब इस बात को सिद्ध करने में विशेष कठिनाई नहीं रह जाती कि पूरी गीता इसी कर्मयोग का प्रतिपादन करनेवाली है। गीता-रहस्य के प्रणेता ने समग्र गीता का कर्मयोग-प्रधान अर्थ विस्तार-पूर्वक बताया है। इस निबन्ध में उसका दिग्दर्शन भी करना शक्य नहीं। अतः अब यह देखिए कि गीता में जो 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहा गया है उसका कारण क्या है।

कर्म-योग शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) चातुर्वर्ण्य के यज्ञ-याग आदि श्रौत-स्मार्त कर्म करने से मोक्ष मिलता है। यह मीमांसकों का पक्ष है, जो गीता को मान्य नहीं।

इसी से 'यामिमां पुष्पितां वाचं' में इसकी निन्दा की गई है। (२) चित्तशुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए—यह ज्ञान का पूर्वाङ्ग है; परन्तु यह भी गीता का कर्म-योग नहीं। (३) अपनी आत्मा के कल्याण का मार्ग जिसे विदित हो गया उस ज्ञानी पुरुष को भी चातुर्वर्ण्योक्त युद्ध आदि सभी कर्म निष्काम-बुद्धि से करते जाना चाहिए—यही गीता का कर्म-योग है। ज्ञान से इसका विरोध हो ही नहीं सकता, क्योंकि इसका आचरण निष्काम-बुद्धि से किया जाता है।

इस तत्त्व को गीता मानती है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है और यह भी उसे मान्य है कि ज्ञानी मनुष्य को स्वयं अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च', 'तस्य कार्यं न विद्यते' अथवा 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य', 'नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यम्' इत्यादि बातें गीता को मान्य हैं। तो फिर प्रश्न यह है कि कर्म किये ही क्यों जायँ? इस पर गीता का उत्तर है कि—'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्', 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः'—किसी भी देहधारी के लिए सब कर्म छोड़ बैठना शक्य नहीं। खाना, पीना, सोना, बैठना यहाँ तक कि साँस लेना अर्थात् जीवित रहना भी जब कर्म ही है तब सब कर्मों का संन्यास कैसा? ज्ञानी यदि उठना-बैठना नहीं छोड़ता, तो और कुछ, अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म, ही क्यों छोड़ बैठे? यदि कोई कहे कि शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करने से बन्धन होगा, इसलिए

हम कर्मों का त्याग करते हैं, तो गीता खुलकर कह रही है कि बन्धन कर्म में नहीं, कर्त्ता की आसक्त बुद्धि या सङ्ग में है। इसलिए 'आसक्ति छोड़कर—सङ्ग छोड़कर—कर्म करो'। गीता कर्म नहीं छुड़ाती—छुड़ाती है सिर्फ़ आसक्त बुद्धि को। 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर', 'कुर्याद् विद्वान् तथा असक्तः,' 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि,' 'यस्य नाहङ्कृतो भावो', 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः लिप्यते न स पापेन,' 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः,' 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्ग', इत्यादि कथन गीता का है। अतः जब ज्ञानी पुरुष का खाना-पीना आदि कुछ भी नहीं छूट सकता तब वह अन्य शास्त्रोक्त कर्म्म ही क्यों छोड़ दे? ज्ञानी पुरुष को उचित है कि आसक्ति छोड़कर शास्त्रोक्त कर्म करे। ज्ञानी को इनके बन्धन से कुछ भी भय नहीं। स्मरण रहे, गीता को संन्यास से परहेज़ नहीं; उसे तो संन्यास की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि गीता का कथन है 'न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन' अर्थात् कर्मयोगी को सङ्कल्प-संन्यास करना ही चाहिए। परन्तु कर्मों का नहीं; कर्म-फल और आसक्ति का—

> "यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
> कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥"

अथवा 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' इत्यादि से, और ऊपर दिये हुए अवतरणों से, सिद्ध है कि बुद्धि में संन्यास करके कर्म करने ही की आज्ञा गीता देती है।

यदि कोई कहे कि सब कर्मों का त्याग शक्य नहीं, तो जितना बन पड़े उतना ही कर्म छोड़ देने में क्या हानि है? इस पर गीता पूछती है कि इसकी ज़रूरत ही क्या? यदि कहा जाय कि कर्म को छोड़कर संन्यास लिये बिना मोक्ष न मिलेगा तो सिद्धान्त यही है कि ज्ञानी को ज्ञान से मोक्ष मिलता है, कर्मत्याग से नहीं। कर्म करते-करते ही सिद्धि हो जाती है, जैसे "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:।" इस पर कहा जा सकता है कि जब ज्ञानी को मोक्ष के लिए कर्मों की अपेक्षा है ही नहीं तब उनको करने का आग्रह क्यों किया जाता है? इस पर गीता का उत्तर है कि, 'तस्य कार्यं न विद्यते' उसे स्वयं अपने लिए कुछ भी करना धरना नहीं। इसी से अब उसे जगत् के लिए कर्म करते रहना चाहिए। जो स्वयं कृतकृत्य हो चुका है वह संसार का उपकार करने के लिए ही जीवित रहता है; और इसी लिए—अज्ञानी पुरुषों के हित के लिए—उसे मृत्यु-पर्य्यन्त कर्म करते ही रहना चाहिए। सांख्य-मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग-मार्ग में यही विशेषता है। इसके अनुष्ठान से लोकहित-सम्बन्धी सभी कर्म बिना किसी आपत्ति के किये जा सकते हैं। सांख्यमार्गीय ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान का उपयोग केवल अपने ही लिए करते हैं; परन्तु कर्मयोगी; स्वयंसिद्ध होकर भी, समस्त संसार का उपकार करने से नहीं चूकते। इसी लिए जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण का मत है कि "कर्मयोगो विशिष्यते"—अर्थात् कर्मयोगी श्रेष्ठ है और

कर्मयोग-मार्ग ही सब लोगों के लिए अधिक श्रेयस्कर है। इसी से भगवान् ने अर्जुन को कर्मयोग-मार्ग का उपदेश किया है। स्वयं राजा जनक ने भी कहा है "मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन"—परन्तु अपने राज्य के सब व्यवहारों को वे यथोचित रीति से करते थे। इसका कारण उन्होंने स्वयं ही बतलाया है—

"देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह।
इत्यर्थं सर्व एवैते समारम्भा भवन्ति वै॥"

इसी से गीता ज्ञानियों को कर्म्म करते रहने का उपदेश करती है।

प्रकृति के नियमानुसार कर्म किसी के भी छूट नहीं सकते। कर्मों का आचरण सब लोगों के लिए यद्यपि अपरिहार्य है तथापि ज्ञानियों को उनके बन्धन का भय नहीं; क्योंकि बन्धन कर्म में नहीं, किन्तु कर्त्ता की आसक्त बुद्धि के कारण होता है।

ज्ञानी पुरुष जब मुक्त हो जाते हैं तब उन्हें स्वयं अपने लिए इस संसार में कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु अन्य अज्ञानी जीव उन्हीं पर अवलम्बित रहते हैं। अतएव उनके हित के लिए ज्ञानियों को कर्म करते ही रहना चाहिए। इसी को गीता 'लोक-संग्रह' कहती है। यहाँ संग्रह-शब्द का अर्थ सञ्चित करना, पालना, रखना, नियमन करना, पोषण करना इत्यादि होता है। अतएव लोक-संग्रह का यह अर्थ है कि "लोगों को एकत्र संबद्ध करके इस रीति से उनका पालन-पोषण और नियमन करे कि उनकी परस्पर अनुकूलता से उत्पन्न होने-वाली समर्थता तथा सङ्घशक्ति उनमें आ जाय, एवं उसके द्वारा

उनकी सुस्थिति स्थिर रखकर उन्हें श्रेय:-प्राप्ति के मार्ग में लगा दे ''। लोक-संग्रह में 'लोक' शब्द का अर्थ केवल मनुष्य ही नहीं, प्रत्युत मनुष्य के साथ ईश्वर-निर्मित भूलोक, सत्यलोक, पितृलोक इत्यादि सभी लोकों तथा संसार के सभी प्राणियों का समावेश उसमें हो जाता है। स्मरण रहे, राजा जनक के "देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च" इत्यादि वाक्यों का यही अर्थ है।

इसी लोक-संग्रह की दृष्टि से कर्म करने का उपदेश अर्जुन को (उन्हीं को क्यों सभी ज्ञानियों को) किया गया है। इस विषय में भगवान् ने स्वयं अपना उदाहरण देकर साफ़-साफ़ बतला दिया है कि यद्यपि ज्ञानियों को निज के लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं, तथापि उनको कर्म करते ही रहना चाहिए। इन कर्मों से उनकी मुक्तावस्था में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। भगवान् कहते हैं "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं" यदि मैं कर्म न करूँगा तो सब लोग नष्ट हो जायँगे—"उत्सीदेयुरिमे लोकाः" और मैं प्रजा-नाशक समझा जाऊँगा। भगवान् को स्वयं अपने लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं, परन्तु विश्व के समस्त व्यवहार जारी रखने के लिए उनको अवतार-धारण आदि कर्म करना ही पड़ता है। यही अधिकार ज्ञानी पुरुषों को प्राप्त है; क्योंकि वे भी स्वयं ईश्वर ही के समान पूर्णता को पहुँच जाते हैं। इसी लिए यह स्पष्ट कहा गया है—

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

ज्ञानी पुरुष संसार में श्रेष्ठ माना जाता है। वह जैसा आचरण करता है वैसा ही आचरण अन्य लोग भी करते हैं और जो बात उसको सत्य मालूम होती है उसी को अन्य जन सत्य मानकर उसी के अनुसार बर्ताव करते हैं। इस बात की ओर ध्यान देकर ज्ञानी जनों को लोक-संग्रह रूपी अपने सांसारिक कर्मों से कभी पराङ्मुख न होना चाहिए—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥"

ज्ञानी और अज्ञानी के व्यवहार में भेद यही है कि प्रकृति के द्वारा जो कर्म हुआ करते हैं उस विषय में मूढ़ मनुष्य यह समझ लेता है कि मैं इन्हें स्वयं ही करता हूँ; परन्तु तत्त्ववेत्ता जानते हैं कि—"गुणा गुणेषु वर्तन्ते"—इसलिए वे उनमें आसक्त नहीं होते। परन्तु इस बात को भूल न जाना चाहिए कि यह भेद आसक्ति का है, कर्म-त्याग का नहीं। ज्ञानी पुरुषों में अपने पराये का भेद-भाव नहीं रहता; उनकी बुद्धि सम हो जाती है। उन लोगों की वृत्ति ऐसी हो जाती है कि 'तुल्यनिन्दास्तुतिः", "अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च," "सर्वभूतहिते रतः" इत्यादि। इसलिए उनका आचरण समाज में सब लोगों के लिए आदर्श और प्रमाणभूत माना जाता है। वही समाज के सच्चे मार्ग-दर्शक होते हैं। अतएव भगवान् ने अर्जुन को गीता में कर्म-योग के आदेशानुसार सम-बुद्धि रखने तथा आसक्ति के त्याग का उपदेश किया है और अर्जुन को निमित्त बनाकर सब

लोगों को यही बताया है कि जब इस संसार में कर्म करना किसी से भी नहीं छूट सकता तब अपने-अपने धर्म के अनुसार, अभिमान-रहित बुद्धि से, फलाशा छोड़कर, कर्तव्य करते रहने और परमेश्वर में विरक्त-भाव-पूर्वक चित्त स्थिर करने ही से मनुष्य का आत्यन्तिक हित हो सकता है।

"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥"

गीता-रहस्य के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त विवेचन यहाँ तक हो चुका। अब केवल एक बात का विचार करना बाक़ी है। यद्यपि यह बात अधिक विवादग्रस्त नहीं तथापि इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। भगवद्गीता में ज्ञान और कर्मयोग के समान भक्ति का भी विस्तृत निरूपण है। परन्तु जिस प्रकार सांख्य और योग दो स्वतन्त्र निष्ठायें हैं उसी प्रकार भक्ति कोई निष्ठा नहीं। वह कर्मयोग का केवल साधन है। 'सर्वभूतों में एक ही परमात्मा है'—इस तरह का परमेश्वर-सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीव्र बुद्धि की आवश्यकता होती है और यह बुद्धि सभी में नहीं रहती। यद्यपि सर्वसाधारण लोगों में इतनी तीव्र बुद्धि का होना सम्भव नहीं, तथापि उनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रेम आदि मानसिक भाव स्वाभाविक होते हैं। इस कारण ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखकर कर्म करते रहने से ईश्वर उन लोगों को वही बुद्धि-योग प्रदान करता है जिससे

ईश्वर-विषयक सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है और मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" इसलिए भगवान् ने कहा है—

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेपि यान्ति परां गतिम्॥"

सर्व-साधारण लोगों ही के लिए गीता में निर्गुण तथा अव्यक्त परमेश्वर की अनेक सगुण तथा व्यक्त विभूतियों का वर्णन है। उसमें स्पष्ट कह दिया गया है कि किसी भी प्रतीक को लेकर, भक्तगण, अनन्य-भक्ति के साथ, उसे परमेश्वर मानकर, उस पर श्रद्धा करते हैं जिससे उनकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है। जिनमें न तो ज्ञान है न श्रद्धा उनके लिए गीता का कथन है कि "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति"। गीता-प्रतिपादित भक्ति कोई स्वतन्त्र मार्ग नहीं; वह स्वधर्मानुसार कर्माचरण करते रहने का और ज्ञान-प्राप्ति का एक सुलभ साधन मात्र है। भगवान् ने ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनों का एकीकरण एक ही श्लोक में इस प्रकार कर दिया है—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"

इसमें ज्ञानमूलक तथा भक्ति-प्रधान निष्काम कर्मयोग ही का उपदेश है।

[अप्रेल १९१७

६—गीता-भाष्य

गीता हिन्दुओं का श्रद्धेय ग्रन्थ है। उस पर बहुत काल से हम लोगों की श्रद्धा चली आती है। श्रद्धा का आरम्भ बहुत करके उसी समय हुआ होगा जिस समय कि वह "गाई गई" थी—जिस समय उसके तत्त्व श्रीकृष्ण के मुख से निर्गत हुए थे। उस पर आज तक अनेक भाष्य, टीकायें और व्याख्यायें हो चुकी हैं। यह ग्रन्थ-रत्न कई प्रकार के ज्ञान का समुद्र है। इसी से भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों ने इसे अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। गीता का आदर उसकी जन्म-भूमि भारत ही में नहीं, देश-देशान्तरों में भी है। योरप और अमेरिका के कितने ही विद्वानों ने उसकी प्रशंसा की है; उसके अनुवाद, अपनी-अपनी भाषा में, किये हैं; उसकी टीका-टिप्पणियाँ भी प्रकाशित की हैं। यदि गीता में अपूर्वता न होती—यदि उसमें गाई गई ज्ञान-गाथा में विशेषता न होती—तो अन्यान्य धर्मों के अनुयायी विदेशी विद्वान् कदापि उसकी ओर इतने आकृष्ट न होते।

गीता पर जो भक्ति हम लोगों की है उसकी मात्रा कुछ समय से अधिक हो गई है। यह अधिकता दिन पर दिन और भी वृद्धि पर है। अब तो गीता गाने और उसके रहस्य समझाने के लिए सभायें तक संस्थापित हो गई हैं। भारतीय

भाषाओं में उसके कितने अनुवाद और कितने भाष्य प्रकट हो चुके हैं, इसकी गिनती ही नहीं। जब से मान्यवर तिलक का गीता-भाष्य निकला तब से तो हम लोगों के श्रद्धा-सागर में तूफ़ान सा आ गया है। तिलक का गीता-भाष्य है भी ऐसा ही। उनके भाष्य में यह विशेषता है कि उन्होंने गीता को कर्म्मयोग-शास्त्र सिद्ध कर दिया है। इसी साधन की सिद्धि—इसी उद्देश की पूर्ति—के लिए उन्होंने लेखनी उठाई थी और इसमें वे सफल-मनोरथ भी हुए हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि विद्वत्ता के बल पर और विद्वान गीता का भाष्य और तरह से नहीं कर सकते। ज़रूर कर सकते हैं, और यह बात गीता के जन्म के बाद ही से होती चली आई है। इस तरह के भाष्य सभी को पसन्द आवें या न आवें, सभी ऐसे भाष्यों की युक्तियां के क़ायल हों या न हों, यह और बात है। स्वभाव, रुचि, अभ्यास, सङ्गति, सम्प्रदाय और विवेक-बुद्धि के न्यूनाधिक विकास के अनुसार सबको सब चीज़ें एक सी हृदयङ्गम नहीं होतीं। यही कारण है, जो तिलक के गीता-भाष्य की प्रतिकूलता करनेवाले भी एक नहीं, अनेक विद्वान्, इस देश में भी पाये जाते हैं।

आज हम एक और गीता-भाष्य का परिचय कराना चाहते हैं। यह भाष्य भी मराठी भाषा में है। इसे भाष्य क्या महा-भाष्य कहना चाहिए। इसका अभी बहुत थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। पर इस थोड़े ही अंश से बड़े आकार के कोई साढ़े पाँच सौ सफ़े घिर गये हैं। अनेक चक्रों, रेखाओं,

आकृतियों और नक़शों से भाष्यकार ने अपने कथन की पुष्टि की है। भाष्यकार का नाम है—श्रीयुत शङ्कर रामचन्द्र राजवाड़े, बी० ए०।

आपका निवास-स्थान पूना है। इस इतनी बड़ी पुस्तक में गीता के केवल पहले और दूसरे अध्याय का भाष्य है। तीसरे अध्याय के केवल ११ श्लोकों की व्याख्या इसमें हुई है, सो भी पूरी नहीं हुई; आगे "चालू" है। इससे पाठक इस बात का अन्दाज़ा कर सकेंगे कि समग्र भाष्य, पूर्ण होने पर, कितना बड़ा होगा और कितनी जिल्दों में निकलेगा। उसमें सब मिलाकर कोई ढाई हज़ार सफ़े होंगे।

इस भाष्य की रचना में भाष्यकार ने अपनी बहुज्ञता, परिश्रम और अध्ययन-शीलता का ज्वलन्त नमूना दिखा दिया है। कोई शास्त्र ऐसा न होगा, कोई विद्या ऐसी न होगी, जिसके प्रसङ्गोपात्त सिद्धान्तों का उल्लेख उन्होंने इसमें न किया हो और जिसके द्वारा गीता के तत्तद्विषयक विचारों की एकवाक्यता न दिखाई हो। जीव-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, विश्वरचना-शास्त्र, मनोविज्ञान-शास्त्र, मनुष्य-विज्ञान-शास्त्र, देव-विज्ञान-शास्त्र, न्याय-तत्त्व, धर्म-तत्त्व इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से भाष्यकार ने इसकी रचना की है। गीता के मूल श्लोक देकर पहले आपने उनका भावार्थ दिया है। फिर श्लोक के प्रत्येक भावांश, यहाँ तक कि किसी-किसी विशेष शब्द की भी, विस्तृत व्याख्या की है। तीसरे अध्याय का ग्यारहवाँ श्लोक लीजिए।

उस पर आपने पृष्ठ २९१ से जो भाष्य आरम्भ किया तो पुस्तक समाप्त हो गई, पर भाष्य समाप्त न हुआ ! दूसरे अध्याय के नवें श्लोक में "गुडाकेश" शब्द आ गया। उसके लिए आपको कोई १२ सफ़ों का एक परिशिष्ट ही अलग लगाना पड़ा। इसी तरह और भी दो-एक परिशिष्ट आपको लिखने पड़े हैं। इतने ही से आपकी परितुष्टि नहीं हुई। पाद-टीकायें भी आपने बहुत लम्बी-लम्बी दी हैं। प्रसङ्ग से आर्यों के मूलस्थान का उल्लेख आ गया तो आपने उत्तरी ध्रुव पर बारीक टाइप में कई सफ़े की एक पाद-टीका लिख डाली और ध्रुव-विषयक जानी गई सारी बातें उसमें कह दीं।

ऐसे गीता-भाष्य की समालोचना क्या, उसकी संक्षिप्त विवेचना लिखना भी, कई कारणों से, हमारे लिए असम्भव है। अतएव इस भाष्य की विशेषता का स्वल्प उल्लेख, कुछ-कुछ भाष्यकार ही के शब्दों में, किया जाता है। ये शब्द हमने उन्हीं की भूमिका से लिये हैं। सुनिए—

"गीता में जो कृष्णार्जुन-संवाद है वह ब्रह्मविद्या और योग-शास्त्र के आधार पर है। व्यष्टि के भीतर और बाहर व्याप्त समष्टि ही का नाम ब्रह्म है। अतएव ब्रह्मविद्या को समष्टि-विद्या किंवा समाज-शास्त्र कहना चाहिए। इसी तरह योग का अर्थ है, मनुष्यों का आचरणीय कर्तव्य अर्थात् कर्म्मयोग। यही कर्म्मयोग मनुष्य का नियत कर्म किंवा नैतिक कर्म कहा जा सकता है। इस दशा में योग-शास्त्र का तात्पर्य हुआ नीति-

शास्त्र। सारांश यह कि ब्रह्मविद्या और योग-शास्त्र को यथाक्रम समाज-शास्त्र और नीति-शास्त्र कहना चाहिए''।

इसी अर्थ के अनुसार भाष्यकार ने इस ग्रन्थ में नीति और समाज की दृष्टि से गीता के तात्पर्य का विवेचन किया है। तिलक महोदय ने अपने गीता-रहस्य में गीता का अर्थ कर्म-योग-परक किया है। और राजवाड़े महाशय ने समाज-शास्त्र और नीति-शास्त्र-परक। दोनों भाष्यकारों की साधन-सिद्धि में यही अन्तर है।

प्रस्तुत भाष्य के लेखक की राय है कि केवल ब्रह्मज्ञान या केवल कर्म्मयोग का आश्रय लेकर यदि गीता-ज्ञान का विचार किया जायगा तो वह अपूर्ण रहेगा यहाँ तक कि उससे समाधान-कारक रीति पर गीता के तत्त्वों का बोध कभी होगा ही नहीं। भाष्यकार की यह उक्ति तिलक महाशय की विचार-प्रणाली के प्रतिकूल है। इससे उनके दृष्टि-केन्द्र का खण्डन होता है। यह बात मान्य है या अमान्य, इस पर गीता-तत्त्व के ज्ञानी ही विचार कर सकते हैं; यह हमारे सङ्कुचित विचार-क्षेत्र की सीमा के बाहर है।

भाष्यकार का कहना है कि उनका यह भाष्य बिलकुल ही नये ढङ्ग का है। न यह किसी पहले भाष्य का प्रतिबिम्ब है, न रूपान्तर है, न तदनुरूप घटाया-बढ़ाया हुआ भाषान्तर है। इसमें गीता के प्रत्येक श्लोक का विवरण केवल नीति और समाज की दृष्टि से किया गया है और गीता के विचारों की

सङ्गति गीता ही के शब्दों से लगाई गई है। इसमें भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की भिन्न-भिन्न विचार-सरणियों का पृथक्करण करके उनकी साङ्गोपाङ्ग परीक्षा की गई है। इसमें अध्यात्म-विषय का जो विवेचन है उसमें समाज, नीति, धर्म्म और राजशासन के आद्य तत्त्व अच्छी तरह प्रकट किये गये हैं। मुख्यतः महाभारत के और प्रसङ्गोपात्त वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों के प्रमाण देकर भाष्यकार ने अपनी उक्तियों की परिपोषकता की है। पाश्चात्य तत्त्व-ज्ञानियों के सिद्धान्तों का उल्लेख भी उन्होंने किया है। गुणदोष-मीमांसा करते समय पूर्वी और पश्चिमी, दोनों देशों के विद्वानों के विचारों की तुलना आपने की है। इस कारण इस भाष्य में अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को भी पसन्द आने योग्य सामग्री है, और दूसरे प्रकार के देशी विद्वानों को भी पसन्द आने योग्य। पुरानी संस्कृत-पद्धति से शिक्षित जनों को इस भाष्य के पाठ से यह भी मालूम हो जायगा कि पाश्चात्य विद्याओं, कलाओं और शास्त्रों की विचार-सरणि कैसी है। यह बात उन्हें ऐतिहासिक और औत्क्रान्तिक पद्धति से एक ही जगह थोड़े में मालूम हो जायगी।

अपने भाष्य के विषय में भाष्यकार ने भूमिका में जो कुछ लिखा है उसका संक्षिप्त सारांश ऊपर दिया जा चुका। इससे पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि इसमें किस प्रकार की विचार-परम्परा से काम लिया गया है, किस उद्देश को सिद्ध करने के लिए चेष्टा की गई है और उस चेष्टा को फलीभूत करने के

लिए कितना परिश्रम करना पड़ा है। यह भाष्य निःसन्देह गहन विचारों का आकर और उच्च कोटि के पाण्डित्य का प्रदर्शक है। मराठी भाषा जाननेवालों को इसका अवश्य अवलोकन करना चाहिए।

यह तो इस भाष्य के गुण-ग्राम का संक्षिप्त उल्लेख है। इसमें कुछ दोष भी हैं। भाष्यकार ने इसमें इतने अधिक शास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार और गीता से उनका मिलान किया है कि भाष्य में कहीं-कहीं जटिलता आ गई है। भाष्य इसलिए किया जाता है कि मूल पुस्तक का आशय अच्छी तरह समझ में आ जाय। पर इस भाष्य को पढ़ते समय यत्र-तत्र मन व्यामोह में पड़ जाता है। शङ्का होने लगती है कि क्या गीताकार ने इन सब बाहर की बातों के—भिन्न-भिन्न शास्त्रों की शाखा-प्रशाखाओं के—रहस्य का कभी स्वप्न में भी ख़याल किया होगा तिलक महाशय ने गीता का अर्थ कर्म्मयोग पर घटित किया है। उनके विवेचन और उनकी तर्क-पद्धति से उनके इस उद्देश की सिद्धि का पता पद-पद पर लगता है। जो कुछ उन्होंने लिखा है उसी उद्देश को लक्ष्य करके लिखा है। पर प्रस्तुत भाष्य में लेखक महोदय, कहीं-कहीं पर, कहाँ के कहाँ चले गये हैं। यदि इसी तरह और विद्वान् भी भिन्न-भिन्न उद्देशों को लक्ष्य करके गीता का तात्पर्य तदनुकूल घटित करने की चेष्टा करेंगे तो गीता का प्रधान उद्देश समझना कठिन हो जायगा। साम्प्रदायिक टीकाकारों ने, अपने-अपने

सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए, अब तक गीता के जो अर्थ लगाये हैं वही बहुत बड़े विचार-विभ्राट का कारण हो चुके हैं। इस तरह और अधिक विभ्राट की ज़रूरत नहीं। इस तरह की खींच-खाँच—इस तरह की विभिन्न-लक्ष्यता—से हानि अधिक होने की सम्भावना है, लाभ कम।

इस भाष्य के विषय में हमारी एक और भी प्रार्थना है। भाष्यकार ने पश्चिमी देशों के कितने ही नामी-नामी विद्वानों और तत्त्वज्ञों के विचारों की अनेक बार निन्दा की है। उन पर आक्रमण तक किये हैं। उनके विषय में ऐसी-ऐसी बातें कही हैं जो विद्वानों को न कहनी चाहिए। आपने क्राइस्ट और बुद्ध तक को नहीं छोड़ा। भूलें आप दिखा सकते थे, पर नम्रता-पूर्वक सौम्य-भाव से। सम्भव है, कुछ लोग कह बैठें कि जो विद्वान् दूसरों का आदर नहीं करता—जो प्रतिकूल मत रखनेवालों की कठोर टीका करता है—वह गीता-भाष्य लिखने का अधिकारी नहीं। एक तिलक महोदय हैं जिन्होंने शङ्करा-चार्य तक की भूलें दिखा दीं, पर इस युक्ति से दिखाईं कि कटुवाद की गन्ध तक न आने पाई। एक राजवाड़े महाशय हैं जिन्होंने स्पेन्सर और कान्त आदि की भूलें दिखाने की चेष्टा करने में कटुता के कटोरे ढुलका दिये। आशा है, आप हमें इस यथार्थवाद के लिए क्षमा करेंगे।

[अगस्त १९१७

१०—ज्योतिष-वेदाङ्ग

[१]

कई महीने से "बार्हस्पत्य"-उपनामधारी कोई विद्वान् "हिन्दुस्तान रिव्यू" में ज्योतिष-वेदाङ्ग पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण लेख लिख रहे थे। ये लेख अब समाप्त हो गये हैं। आपही ने लगध मुनि-प्रणीत ऋग्यजु:सम्बन्धी ज्योतिष-वेदाङ्ग को इंडियन प्रेस, प्रयाग, में छपाकर प्रकाशित किया है। इसके पाठ में बड़ा गड़बड़ था। परम्परा से जिसे जैसा शुद्धाशुद्ध पाठ याद था वह वैसा ही पढ़ता था। योरोप के एक आध पण्डित की संग्रह की हुई पोथियों में और भी अधिक पाठ-भेद था। इसी दोष को दूर करने के लिए "बार्हस्पत्य" जी ने इस पुस्तक में एक तरफ़ प्रचलित पाठ और दूसरी तरफ़, उसी के सामने, सान्वय साधु पाठ प्रकाशित करके इस शास्त्र का पुनरुद्धार कर दिया। आपने यह बहुत बड़ा काम किया।

परन्तु "हिन्दुस्तान-रिव्यू" में आपने जो लेख-मालिका प्रकाशित करके इस प्राचीन ज्योतिष-शास्त्र की विस्तृत व्याख्या अँगरेज़ी में की है वह काम इससे भी बड़ा है।

इन लेखों को पढ़ने से मालूम होता है कि "बार्हस्पत्य" जी सचमुच ही बार्हस्पत्य—बृहस्पति के अपत्य या वंशज—हैं। आपने इस ऋग्यजु:सम्बन्धी ज्योतिष-शास्त्र का अनुवाद और

उसकी व्याख्या इस विद्वत्ता, इस योग्यता, इस खोज, इस कल्पना के साथ अँगरेज़ी में की है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप नवीन और प्राचीन ज्योतिष, उच्च कोटि के गणित-शास्त्र तथा अँगरेज़ी और संस्कृत-भाषा पर अद्भुत अधिकार रखते हैं। पहले तो इस शास्त्र का जो पाठ आज दो-तीन हज़ार वर्ष से चला आता था वह बहुत स्थलों में अशुद्ध था। फिर डाक्टर टीवो तथा दक्षिण के प्रसिद्ध पण्डित मोडक और दीक्षित आदि से भी उसके कितने ही पद्यों का अर्थ न लगता था। परन्तु इन कठिनाइयों को "वार्हस्पत्य" जी ने बहुत कुछ हल कर दिया। आपने पाठ का भी संशोधन कर दिया और व्याख्या भी कर दी। अपनी व्याख्या में आपने अनेक नई-नई बातें कही हैं और अनेक स्थलों पर डाक्टर टीवो के कथन का खण्डन किया है।

डाक्टर साहब ने, कई वर्ष हुए, यजुर्वेदीय ज्योतिष की व्याख्या और आलोचना प्रकाशित की थी। सुनते हैं, डाक्टर साहब ने "वार्हस्पत्य" जी की लेख-मालिका की समालोचना लिखी है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगी। समालोचना के लिए डाक्टर साहब का क़लम उठाना इस बात का जाज्वल्यमान प्रमाण है कि "वार्हस्पत्य" जी के लेख सविशेष विद्वत्ता-पूर्ण हैं। "वार्हस्पत्य" ऐसे विद्वान् इस देश के ज्योतिर्विदों के भूषण हैं।

खोज, कल्पना और आलोचना में योरपवालों ही का आसन अभी तक ऊँचा समझा जाता था, पर "वार्हस्पत्य" जी

ने दिखला दिया कि इन विषयों में इस देश के भी विद्वान्, मनो-निवेश-पूर्वक परिश्रम करें, तो वे पाश्चात्य विद्वानों से भी उच्च-तर आसन के अधिकारी हो सकते हैं। "वार्हस्पत्य" जी की स्थिति आज-कल काशी में है। आप कायस्थ हैं। अतः कायस्थों के लिए विशेष प्रसन्नता, नहीं गर्व, की बात है जो उनमें "वार्हस्पत्य" ऐसे संस्कृतज्ञ पण्डित और ज्योतिषी हैं। यदि "वार्हस्पत्य" जी योरप या अमेरिका के निवासी होते और वहाँ वे ऐसे विद्वत्ता-पूर्ण लेख लिखते तो उनका बहुत बड़ा नाम होता। परन्तु विद्वानों को नाम की तादृश परवा नहीं होती। विद्वत्ता-पूर्ण लेख लिखने, या कोई पाण्डित्यप्रदर्शक काम करने, से उन्हें जो आन्तरिक सन्तोष होता है वही उनके परिश्रम का पूरा पुरस्कार है—

दुर्ज्ञेयार्थे लागधे ज्योतिषेऽस्मिन् सुस्पष्टार्था येन टीका व्यधायि।
सोऽयं विद्वद्वृन्दलब्धप्रतिष्ठो बार्हस्पत्यो दीर्घमायुष्यमीयात्॥

[जनवरी १९०७

---

[२]

"वार्हस्पत्य" ने ज्योतिष-वेदाङ्ग का जो अनुवाद अँगरेज़ी में करके "हिन्दुस्तान-रिव्यू" में प्रकाशित किया है उसे अँग-रेज़ी जाननेवाले पाठकों ने पढ़ा होगा। "वार्हस्पत्य" ने अनु-वाद ही नहीं किया, किन्तु उसके साथ विस्तृत भाष्य भी रचा

है और अपने भाष्य में ऐसी विद्वत्ता प्रदर्शित की है जैसी आजकल के एतद्देशीय विद्वानों में बहुत कम पाई जाती है। "बार्हस्पत्य" का लेख नौ महीने तक लगातार "हिन्दुस्तान-रिव्यू" में निकला। समग्र लेख कोई सौ डेढ़ सौ पृष्ठों के लगभग होगा। उसे लिखने में "बार्हस्पत्य" जी को महीनों लगे होंगे। बड़े परिश्रम और खोज से उन्होंने उसे लिख पाया होगा। परन्तु इस इतने बड़े और इतने कठिन काम को महामहोपाध्याय सुधाकरजी द्विवेदी ने दस ही पन्द्रह दिन में कर डाला! इसलिए पण्डितजी की जितनी तारीफ़ की जाय कम है। जान पड़ता है, ज्योतिष-वेदाङ्ग पर भी आपका अत्यधिक अधिकार है। "हिन्दुस्तान-रिव्यू" के आक्टोबर-नवम्बर १९०६ के सम्मिलित अङ्क में "बार्हस्पत्य" का लेख का समाप्त हुआ। यह अङ्क नवम्बर के शुरू में, कुछ दिन बीतने पर, निकला। उस भाष्य के समाप्त होते ही द्विवेदीजी का भी भाष्य समाप्त हो गया। दोनों की समाप्ति में बहुत ही थोड़ा अन्तर पड़ा। द्विवेदीजी की भूमिका से स्पष्ट है कि १ दिसम्बर १९०६ को आपने अपना भाष्य समाप्त किया।

ज्योतिष-वेदाङ्ग की सृष्टि हुए ढाई-तीन हज़ार वर्ष से कम न हुए होंगे। आज तक किसी ने उस पर सप्रपञ्च भाष्य नहीं रचा था। और रचा भी हो तो वह अप्राप्य था। काशी, काञ्ची, और नवद्वीप आदि में कितने ही विद्वान् हो गये; पर किसी ने इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया। पण्डित सुधा-

करजी भी बीस-पच्चीस वर्ष से पुस्तक-प्रणयन कर रहे हैं। आप ज्योतिष में अद्वितीय गति रखते हैं। ज्योतिष-वेदाङ्ग पर डाक्टर टीबो और शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने जो कुछ लिखा है उसे भी पढ़े आपको बहुत दिन हो गये। पर आपने अब तक इस विषय में हस्तक्षेप नहीं किया था। फिर "बार्हस्पत्य" का भाष्य निकलते ही आपने अपने भाष्य की ज़रूरत क्यों समझी? "हिन्दुस्तान-रिव्यू" से मालूम हुआ कि "बार्हस्पत्य" कायस्थ हैं। पण्डितों का आसन एक कायस्थ ने छीन लिया। कहीं इसी लिए तो यह प्रयत्न नहीं किया गया? यह बात तो न होनी चाहिए; क्योंकि "बार्हस्पत्य" की विद्वत्ता का प्रधान कारण ब्राह्मण विद्वानों ही की कृपा है। यदि उनकी कृपा से उन्हें संस्कृत-भाषा में विज्ञता न प्राप्त होती तो वे ज्योतिष-वेदाङ्ग पर ऐसा अच्छा भाष्य कदापि न रच सकते। अतएव उनके भाष्य से काशी आदि के पण्डितवर्य्यों की हतक नहीं। "बार्हस्पत्य" का भाष्य तो उलटा पण्डित जनों के महत्त्व और विद्वत्ता का सूचक है।

"बार्हस्पत्य" का भाष्य और अनुवाद अँगरेज़ी में है और बहुत बड़ा है। सुधाकरजी का संस्कृत में है और बहुत छोटा है; उसमें सिर्फ़ ४० पृष्ठ हैं। पर क़ीमत उसकी है १ रुपया! इस भाष्य को बनारस की सद्योजात "प्राभाकरी कम्पनी" ने छापकर प्रकाशित किया है और पुस्तक का स्वत्व भी उसने अपने अधिकार में रक्खा है। न मालूम इस पुस्तक का स्वत्व

सुधाकरजी ने इस कम्पनी को क्यों दे डाला? आप अपना ही स्वत्व रखते तो शायद पुस्तक की क़ीमत भी आप कम रखते। इस दशा में उसकी बिक्री अधिक होने की सम्भावना थी।

"सौधाकर" और "वार्हस्पत्य" भाष्यों का मिलान करने से मालूम हुआ कि दोनों में बहुत कम भेद है। सुधाकरजी की कृति "समालोचना" में परिगणित हो सकती है; भाष्य में नहीं। क्योंकि आपने प्रायः "वार्हस्पत्य" ही के भाष्य का अनुधावन किया है। हाँ, यत्र-तत्र आपने अपनी तरफ़ से कुछ ज़रूर कह दिया है; पर आपका कथन विशेष महत्त्व का नहीं। उससे भाष्य को नूतनता नहीं प्राप्त हो सकती। किसी-किसी पद्य के भाष्य में आपने विभिन्न पथ का अवलम्बन भी किया है। इस बात को हम मानते हैं। परन्तु इससे आपके भाष्य को भाष्यत्व प्राप्त होना असम्भव है। "वार्हस्पत्य" के भाष्य के निकलते ही अपने नाम से भाष्य प्रकाशित करने में सुधाकरजी ने दूरदर्शिता का काम नहीं किया। "वार्हस्पत्य" के अधिकांश कथन से सहमत होकर सिर्फ़ कहीं-कहीं पर विभिन्नता दिखलाने से सुधाकरजी की कृति को भाष्यत्व-पद कैसे मिल सकता है? इसका विचार हम उन्हीं पर छोड़ते हैं। "वार्हस्पत्य" के लेख की आलोचना करने का सबको समान अधिकार है। पर समालोचना करना भाष्य बनाना नहीं। यदि दस आदमी उनके भाष्य की आलोचना करें तो क्या सभी अपनी-अपनी आलोचना को भाष्य कह सकेंगे?

हमारी समझ में सुधाकरजी को चाहिए था कि वे "बार्हस्पत्य" के भाष्य के जितने अंशों से सहमत थे उनका स्पष्ट उल्लेख करके, अवशिष्ट अंशों की आलोचना भर कर देते। पर आपने न जाने क्यों ऐसा नहीं किया? अब यदि कहीं "बार्हस्पत्य" जी ने आपके भाष्य का जवाब दिया तो बात बिगड़ने का डर है। सम्भव है, ऐसे गुल खिलें जो सुधाकरजी के लिए परि-ताप का कारण हों।

सुधाकरजी का भाष्य कैसा है, अथवा आपने उसमें जो नई-नई बातें कहीं हैं वे कहाँ तक ठीक हैं, इसका विचार करना हमारा काम नहीं। "बार्हस्पत्य" ही के सदृश विद्वान् उनका विचार कर सकते हैं। पर इतना हम ज़रूर कहना चाहते हैं कि सुधाकरजी ने "बार्हस्पत्य" के मत के विषय में कई जगह पर जो यह लिखा है कि वह "शोभन" नहीं, "सम्यक्" नहीं, "साधु" नहीं, इत्यादि—उसका आपको प्रमाण देना था। किसी की बात को असार, भ्रष्ट, अस्फुट, अशुद्ध कह देने ही से वह वैसी नहीं हो जाती। सुधाकरजी ने इस विषय में अपने कथन को सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की। यह आपने और भी बुरा किया। किसी के कथन का खण्डन यदि प्रमाण-पूर्वक न किया जायगा तो उस पर पढ़नेवालों का विश्वास कैसे होगा? आपने अपने भाष्य के उपोद्घात में लिखा है कि "बार्हस्पत्य" के व्याख्यान में अशुद्धियों का "प्राचुर्य्य" है। इस प्राचुर्य्य के विषय में आपने सिर्फ़

"असार" और "अस्फुट" आदि शब्द लिखकर ही नजात पाई है। जिन अशुद्धियों के कारण आपको नया भाष्य बनाना पड़ा उनकी सप्रमाण आलोचना न करना आश्चर्य्य की बात है। "बार्हस्पत्य" की अशुद्धियों का उल्लेख करने में, आपने बार-बार अपने भाष्य को देखने के लिए पाठकों से प्रार्थना की है। पर भाष्य को देखे कोई क्या, वहाँ उन अशुद्धियों का सप्रमाण खण्डन भी हो। किसी की उक्ति को अशुद्ध कह देना भी क्या कोई खण्डन है ? आपने जब "बार्हस्पत्य" की अशुद्धियों को दूर करने के लिए भाष्य बनाया था तब अपनी अशुद्धियों पर भी विचार कर लेना था। आपके भाष्य में ख़ुद ही व्याकरण की भद्दी-भद्दी भूलें हैं। आप लिखते हैं—

"द्वादश्यां विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्यां दशमं भवेत्"।

भला जब 'विषुवान्' को पुँल्लिङ्ग मान चुके तब 'दशमं' क्यों ? 'दशमो' लिख देते तो क्या हर्ज था ?

और लीजिए। सुधाकरजी अपने उपोद्घात के अन्त में कहते हैं कि आतुरता के कारण छपने या शोधने में कहीं अशुद्धि रह गई हो तो उसका संशोधन पाठक ही कर लें। यह तो ठीक; परन्तु इस बात का निश्चय क्योंकर हो कि जहाँ कहीं पण्डितजी ने कोई विलक्षण शब्द लिखा है वह जानकर वैसा लिखा है या मुद्रणाऽशुद्धि है। उदाहरण के लिए कई जगह आपकी पुस्तक में "बृहस्पतिः" की जगह "बृहस्पती" है। अब बतलाइए, यह त्रुटि किसके मत्थे मढ़ी जाय ?

उपोद्घात में सुधाकरजी लिखते हैं कि वेबर और टीवो साहब के ज्योतिष-वेदाङ्ग-विषयक व्याख्यानों की विवेचना करके पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक ने भी कुछ श्लोकों का अर्थ प्रकाशित किया है। नहीं मालूम, आपको यह बात कहाँ से मालूम हुई। जहाँ तक हम जानते हैं, तिलक महाशय ने इस वेदाङ्ग के पद्यों का अर्थ कभी प्रकाशित ही नहीं किया। हाँ, शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने ज़रूर किया है। उनके नाम के साथ तिलक के नाम को भी घसीटना सुधाकरजी का भ्रम है। आपका एक और भ्रम हम दूर करना चाहते हैं। आप उपोद्घात में लिखते हैं कि वेबर साहब ने ज्योतिष-वेदाङ्ग की अनेक पुस्तकों का मुक़ाबला करके उनकी मदद से एक संशोधित-पाठ-पूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है और उस पुस्तक में कुछ श्लोकों की व्याख्या भी की है। परन्तु यदि आप वेबर की पुस्तक को सामने रखकर प्रचलित पुस्तकों के पाठ पढ़कर देखेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि वेबर ने अपनी पुस्तक में ज़रा भी पाठ-संशोधन नहीं किया। वेबर ने परम्परागत प्रचलित पाठ, जैसे पाये हैं वैसे ही, प्रकाशित कर दिये हैं। हाँ, व्याख्यान में उन्होंने ज़रूर कहीं-कहीं पर अपनी राय के अनुसार संशोधन की सिफ़ारिश की है।

सुधाकरजी को चाहिए था कि वे अपनी पुस्तक में परम्पराप्राप्त पाठ भी देते। पर आपने ऐसा करने की ज़रूरत नहीं समझी। आपने अपनी समझ के अनुसार सिर्फ़ संशोधित

ही पाठ दिया है। अतएव पढ़नेवाले आपके पाठ का मुक़ा-वला पुराने पाठ से करके इसका निश्चय नहीं कर सकते कि कौन पाठ अधिक "शोभन" है। पुरानी पुस्तकों का उद्धार करने में पाठान्तर देने की प्रथा बहुत अच्छी है। सभी आधुनिक विद्वान् इस प्रथा का आदर करते हैं। सुधाकरजी का भाष्य "बार्हस्पत्य" के भाष्य के कुछ अंशों की केवल आलोचना है। अतएव पाठान्तर देकर अपने संशोधित पाठ की शोभनता दिखाने की उनके लिए बहुत बड़ी ज़रूरत थी। पर शायद "बार्हस्पत्य" की त्रुटियों को बतलाने की धुन में आपका ध्यान इस सर्व-सम्मत प्रथा के अवलम्बन की तरफ़ नहीं गया।

"बार्हस्पत्य" और सुधाकरजी के भाष्यों का मुक़ाबला करने पर एक बड़े ही महत्त्व का भेद देख पड़ता है। वह यह है कि "बार्हस्पत्य" ने अपने व्याख्यान में अपनी सम्म-तियों को ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों के आधार पर स्थिर किया है; पर सुधाकरजी ने भास्कर और वराहमिहिर की शरण ली है। ज्योतिष-वेदाङ्ग की सृष्टि के सैकड़ों वर्ष बाद ये दोनों ज्योतिर्विद् उत्पन्न हुए हैं। अतएव प्राचीन ज्योतिष-सिद्धान्त की परिपोषकता के लिए इन ज्योतिर्विदों के मत को प्रमाण के तौर पर लिखना किसी तरह युक्तिसङ्गत नहीं। जिस समय का ज्योतिष-वेदाङ्ग है उसी समय के ग्रन्थों से अपना मत पुष्ट करना चाहिए था। "बार्हस्पत्य" ने यही किया है। उन्होंने भास्कर और वराहमिहिर का आश्रय न लेकर अपने

कथन को ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों से सिद्ध किया है। ज्योतिष-वेदाङ्ग वैदिक ग्रन्थ है। इसलिए वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ही उसका व्याख्यान होना चाहिए, लौकिक ग्रन्थों के आधार पर नहीं। पर सुधाकरजी ने इस बात का विचार नहीं किया। वराहमिहिर और भास्कर आदि अर्वाचीन विद्वानों के ज्योतिष-सिद्धान्तों के आधार पर सुधाकरजी ने जो मत स्थिर कर लिये हैं, ज्योतिष-वेदाङ्ग के अर्थों को तोड़-मरोड़कर, आपने उन्हीं मतों को परिपुष्ट करने की कोशिश की है। यह आपने बड़े साहस का काम किया है। नवीन ग्रन्थों के सिद्धान्तानुसार प्राचीन ग्रन्थों का अर्थ न करके, तत्कालीन अन्य प्राचीन ग्रन्थों ही से उनका मेल मिलाना उचित था।

सुधाकरजी ने एक बात और भी अच्छी नहीं की। आपने अपनी पुस्तक की भूमिका में पुराने पण्डितों को बेतरह फटकारा है। "सदाचार और सदर्थ नष्ट हो गये। गुणियों के मुँह में सिर्फ़ भोजन की कथा रह गई। हाथ पर मद्य का प्याला रह गया। श्रुति के अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये।" ये आरोप शिष्टता-विघातक और मर्म्मभेदी हैं। यही बातें कोमल शब्दों में कही जा सकती थीं, जैसे कि "बार्हस्पत्य" के ज्योतिष-वेदाङ्ग की भूमिका में कही गई हैं। सुधाकरजी की उक्तियों से एक प्रकार का गर्व टपक रहा है। एक प्रतिष्ठित विद्वान् के मुँह से ऐसी-ऐसी बातों का निकलना आश्चर्य की बात है। पुराने पण्डित चाहे कितने ही भ्रष्टाचारवाले और मूर्ख क्यों न

रहे हों सुधाकरजी उनके ऋणी ज़रूर हैं। यदि वेदों और वेदाङ्गों को जी-जान से प्यारा समझकर वे उनकी रक्षा न करते तो ज्योतिष-वेदाङ्ग लुप्त हो जाता और सुधाकरजी को आज अपना भाष्य लिखकर नामवरी हासिल करने का मौक़ा न मिलता।

ज्योतिःशास्त्र को विद्वानों ने वेदों की आँख माना है। इस पर सुधाकरजी ने अपने भाष्य की पद्यात्मक भूमिका में एक रूपक रचा है। आप कहते हैं कि वेदों की आँख में मोतियाबिन्द हो गया था—वे अन्धे हो गये थे। योरप के पण्डितों ने उनकी आँख खोलने की बहुत कोशिश की, पर कामयाबी न हुई। यह देखकर "बार्हस्पत्य" महाशय ने सर्जन का काम किया। उनके सूक्ष्म शस्त्र से मोतियाबिन्द दूर हो गया। आँख साफ़ निकल आई; वह "प्रकाशित" भी हो गई। पर उसमें तेज नहीं आया। क्यों? इसलिए कि "बार्हस्पत्य" के पास "सुधा" नहीं थी! और सुधाकरजी के नाम ही में सुधा भरी हुई है। बस उसी का योग करके आपने वेद-चक्षु में प्रकाश पैदा कर दिया! यह तो आपने सब किया; पर आपकी एक बात समझ में न आई। "बार्हस्पत्य" ने यदि "चक्षु प्रकाशित" कर दी थी तो कनीनिका में "रोग-वलय" कैसे रह गया, जिसका सम्मार्जन आपको करना पड़ा? आँख प्रकाशित होने पर भी विना सुधा के देख नहीं पड़ता, यह बात आज आपके मुँह से नई सुनने को मिली। सुधा का प्रयोग आज तक मुर्दों को जिलाने

और ज़िन्दों को अमर करने ही के लिए सुना गया था। पर अब मालूम हुआ कि मोतियाबिन्द का जाला निकालने के बाद वह आँख में भी डाली जाती है। बिना उसे डाले आँख से देख ही नहीं पड़ता। अस्तु। अच्छा आविष्कार हुआ। "बार्हस्पत्य" जी सुनकर ख़ुशी मनावें।

सुधाकरजी "बार्हस्पत्य" के भाष्य की चाहे जितनी कड़ी समालोचना करते; चाहे उसके एक-एक शब्द को अशुद्ध कह देते; जो कुछ आपने अपनी भूमिका आदि में कहा है चाहे उससे भी कुछ और अधिक कह देते; पर आपको अपनी पुस्तक का नाम "भाष्य" न रखना था। वह भाष्य कदापि नहीं। वह "बार्हस्पत्य" के भाष्य के कुछ अंशों की आलोचना मात्र है। भूमिका में यह बात क़बूल करके भी आपने "बार्हस्पत्य" ही की रीति का अवलम्बन ("तेषाञ्च रीतिमवलम्ब्य") किया है। फिर भी आपने अपने को भाष्यकार बताया है। यह आपने अपने अनुरूप काम नहीं किया। इस स्पष्टवाद को आप क्षमा करें।

[फ़रवरी १९०७

११—स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेद-भाष्य और अध्यापक मैक्समूलर

लाहौर के देव-धर्म्म के प्रवर्तक और आर्य-समाज में परस्पर ३६ का सम्बन्ध है। इनकी आपस में कभी नहीं पटती। एक न एक छेड़ छाड़ चली ही जाती है। देव-समाज से एक मासिक पुस्तक अँगरेज़ी में निकलती है। उसका नाम है—"विज्ञान-मूलक धर्म्म"। उसके जुलाई १९१२ के अङ्क में सम्पादक ने कुछ पत्र-व्यवहार प्रकाशित किया है। ये पत्र देव-समाज के प्रतिष्ठाता अग्निहोत्रीजी और परलोकवासी अध्यापक मैक्समूलर के हैं। पत्र १२ वर्ष के पुराने हैं। उन्हें इतने दिन बाद प्रकाशित करने का अभिप्राय क्या है, सो बताने की ज़रूरत नहीं। अभिप्राय कुछ भी हो, यदि मैक्समूलर के पत्रों में भूल नहीं, तो उनसे उनके लेखक की राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और सायन तथा महीधर के वेद-भाष्यों के विषय में, सर्वसाधारण को अच्छी तरह मालूम हो सकती है। इसी से इस पत्र-व्यवहार का मतलब हिन्दी में नीचे दिया जाता है।

देव-धर्म्म-मिशन का दफ़्तर।

लाहोर, १४ जनवरी १८९१

अध्यापक मैक्समूलर की सेवा में,

७, नोरहम गार्डन्स,

आक्सफ़र्ड, इँगलैंड

प्रिय महाशय,

फ़ीरोज़पुर, पञ्जाब, से "आर्य्य-गज़ट" नाम का एक उर्दू-पत्र आर्य्य-समाज की तरफ़ से निकलता है। आप जानते होंगे कि आर्य्य-समाज उस धर्म्म-संस्था का नाम है जिसके प्रवर्त्तक पण्डित दयानन्द थे और जो उन्हीं के विचारों और शिक्षाओं का प्रचार करती है। हाल ही में "आर्य्य-गज़ट" में एक लेख निकला है, जिसका लेखक कहता है कि स्वार्थी लोगों ने, समय-समय पर, हिन्दू-धर्म्म-पुस्तकों में मनमाना मिश्रण किया है। वह यह दोष आप पर भी आरोपण करता है। वह कहता है कि आपने भी वेदों में कितने ही स्वरचित मन्त्र मिला दिये हैं। वह वेद के किसी ऐसे नये संस्करण का नाम नहीं बतलाता जिसमें आपके रचे हुए मन्त्रों का सन्नि-वेश हुआ हो; परन्तु उसने आपके रचे हुए एक वेद-मन्त्र को उद्धृत किया है। वह ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है—

मत्स्य-सूक्तम्

लक्षनामा मत्स्यो देवता, गायत्री-छन्दः, मोक्षमूलरऋषिः।

लक्षनामानमद्भुतमहामत्स्या पुरू-प्रियं सखायोऽभिप्रगायत॥ १॥

सुमन्वितः समुद्र आसु रक्षितो नदीषु च सनः सन्तुष्ट आगमत ॥२॥
मत्स्यः पूर्वेभि ऋषिभिरिड्यो नृतदेवता सलक्ष्मीमेह वहति ॥ ३ ॥
इदं समेत पश्यत रोहिन्मांसमुपेशसां परे रजतं न शोभते ॥ ४ ॥
पत्रादिः राजवीतया स्वादिष्टया सुपिक्तो स तस्यो धार्यः ॥ ५ ॥
आदिच्चारं, सुसंदर्शं इह सधस्थ उश्मसि नृभ्यो नारिभ्यो अथवे ॥६॥

आप इस देश और अन्य देशों में भी बहुत प्रसिद्ध हैं। आप संस्कृत के बड़े भारी विद्वान् समझे जाते हैं। मालूम होता है कि उक्त लेख के लेखक ने आपके विषय में जो कुछ लिखा है वह जान-बूझकर सत्य के ऊपर पर्दा डालने और आपको बदनाम करने के लिए लिखा है। वह चाहता है कि लोग आपको स्वार्थी और प्रवञ्चक समझें और आपके द्वारा की गई वेदों की टीका पर पण्डित दयानन्द के उस वेदभाष्य के मुक़ाबले में, जिसमें प्रत्येक वेद-मन्त्र ख़ूब ही तोड़ा-मरोड़ा गया है और जिसमें मन्त्रों के मनमाने अर्थ किये गये हैं, लोग कुछ भी विश्वास न करें।*

---

* "Now to us it seems a clear misrepresentation and fabrication of facts, made with a view to mislead the people into the belief that Professor Max Muller, who is so famous here, as well as in other countries, as an authority on Sanskrit literature, is a dishonest and interested man and his authority about the Vedas should no longer be believed against that of Pundit Dayanand (who has simply twisted and tortured every text of the Vedas while giving his false meanings and interpretations.)"

उस लेख को एक दूसरे पत्र ने भी उद्धृत किया है। इससे मालूम पड़ता है कि लोग उसे पढ़कर बहुत बहक जायँगे। क्या आप कृपा कर इस विषय में कुछ लिखेंगे? आपका जो उत्तर आवेगा वह सत्य के पक्ष के समर्थनार्थ हमारे मिशन के पत्र में उद्धृत कर दिया जायगा।

आपका

एस० एन० अग्निहोत्री, अधिष्ठाता, देव-समाज
और प्रवर्त्तक देव-धर्म्म-मिशन

पुनश्च

जब यह पत्र लिखा जा चुका था तब मालूम हुआ कि इसी विषय का एक लेख लाहोर की "आर्य्य-पत्रिका" में भी निकला है। मैं उक्त पत्रिका की उस प्रति को अन्य काग़ज़ों के साथ भेजता हूँ। जिन दो पाराग्राफ़ों में आपका ज़िक्र है उन पर मैंने निशान लगा दिया है।

❀ ❀ ❀

इस पत्र का जो उत्तर आया वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

आक्सफ़र्ड,
७ फ़रवरी, १८९१।

प्रिय महाशय,

मैं आपका बड़ा ही कृतज्ञ हूँ जो आपने आर्य्य-गज़ट के कुछ अंश और "आर्य्य-पत्रिका" की एक कापी भेजने की कृपा की। आपके भेजे हुए काग़ज़ बड़े ही मनोरञ्जक हैं। परन्तु

शायद ही उन पर किसी ने गम्भीरता-पूर्वक विचार किया हो। आपको मालूम होगा कि हाल ही में स्वीडन के प्रधान नगर स्टाकहाल्म में पूर्वीय भाषाओं के विद्वानों का एक सम्मेलन हुआ था। एक दिन वहाँ के बादशाह ने हम लोगों को भोज दिया। उसमें यह निश्चित हुआ कि हममें से हर आदमी एक-एक प्रकार के भोज्य पदार्थ पर अपनी-अपनी पूर्वी भाषा में कविता रचकर वहाँ पढ़े। मेरे ऊपर "सालमन, सासरायल" (Salman, Sauce Royale) नाम के भोज्य पदार्थ पर वैदिक संस्कृत में कविता रचने और उसका गुण गाने का भार रक्खा गया। "सालमन" को स्वीडिश भाषा में "लच" भी कहते हैं। अतएव मुझे इसी नाम का प्रयोग संस्कृत में करना पड़ा।

मुझे डर था कि शायद मेरी रचना वैदिक व्याकरण के अनुसार न हुई हो और मैंने स्वर-सम्बन्धी भूलें भी की हों। परन्तु मुझे इस बात की ज़रा भी आशा न थी कि मुझ पर वैदिक मन्त्रों के गढ़ने का दोषारोपण किया जायगा। मुझे सायन और महीधर के वेद-भाष्यों पर भी अन्ध-विश्वास नहीं। सायनकृत वेद-भाष्य का एक नया संस्करण मैंने अभी प्रकाशित किया है। मैं सायन की विद्वत्ता का अवश्य क़ायल हूँ; परन्तु मैं उनकी सम्मति और निष्कर्षों से सहमत नहीं, दयानन्द सरस्वती से सहमत होना तो दूर की बात है।

भवदीय

मैक्समूलर

पुनश्च

मैंने देव-धर्म्म-मिशन की पुस्तकों को बड़ी रुचि से पढ़ा।

* * *

इसके अनन्तर अध्यापक मैक्समूलर का एक पत्र और भी आया। वह भी नीचे उद्धृत किया जाता है—

७, नारहम गारडेन्स,

आक्सफ़र्ड, २४ फ़रवरी, १८६१

श्रीमान् महाशयजी,

आपने जो काग़ज़-पत्र भेजे उनके लिए मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। दयानन्द सरस्वती के विषय का लेख पढ़कर मेरे वे सन्देह पुष्ट हो गये जो मेरे चित्त में उनके सम्बन्ध में थे। मैं अभी तक समझता था कि धार्म्मिक विषयों में वे बड़े ही कट्टर, या उससे भी कुछ अधिक, थे। अतएव वे अपने ऋग्वेद-भाष्य के उत्तरदाता नहीं। परन्तु मुझे यह जानकर बड़ा ही दुःख हुआ कि वे अपने धार्म्मिक जोश की आड़ में कोई चाल भी चलते थे * तथापि मैं यह माने विना नहीं रह सकता कि उनमें कुछ अच्छी बातें भी थीं, और अन्य सुधारकों की तरह वे भी अपने अनुयायियों और ख़ुशामदियों द्वारा गुमराह कर दिये गये थे।

---

* I am sorry to hear that there was method in his madness.

बड़े ही दुःख की बात है कि उनके किये गये ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्यों पर इतना अधिक धन व्यय किया गया। ये दोनों भाष्य उनकी बहकी हुई बुद्धि की निपुणता के नमूने और सौगात हैं। मुझे इस बात पर आश्चर्य नहीं जो केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती से सहमत नहीं हो सके।

आपका,
मैक्समूलर।

पुनश्च

मुझे इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं कि आपके देव-धर्म्म-मिशन के सिद्धान्तों से मेरी पूर्ण सहानुभूति है।

[अक्तूबर १८९२

१२—शकुन्तला

पण्डित नन्दलाल विश्वनाथ दुबे, १८८८ ईसवी में, सम्भलपुर के मारिस हाई स्कूल के हेड मास्टर थे। अब शायद आप पेन्शन का सुखोपभोग करते हुए वेदान्त-चिन्ता में अपने समय का सदुपयोग कर रहे हैं। आपको पहले कविता और साहित्य-सेवा से बड़ा प्रेम था। अब वेदान्त से है। १८८८ में कालिदास के शाकुन्तल नाटक का गद्य-पद्यात्मक हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करके आपने बड़ा नाम पाया। उस साल महारानी विक्टोरिया की जुबिली का उत्सव था। अपनी गाढ़ राजभक्ति का परिचय देने के लिए उसी उत्सव की यादगार में दुबेजी ने यह अनुवाद प्रकाशित किया था। इस अनुवाद द्वारा पूर्व और पश्चिम को आपने एक करना चाहा है। अथवा यों कहिए कि अपने अनुसार आपने उन दोनों के मेल में 'सिमेन्ट' लगाया है। वह इस तरह—इस नाटक के संस्कृत-पद्यों का जो अनुवाद आपने हिन्दी में किया है वह बहुत स्थलों में उसी छन्द में किया है जिसमें मूल पद्य है। अच्छा यह तो पूर्वी प्रणाली हुई। पश्चिमी प्रणाली आपने यह रक्खी है कि अँगरेज़ी ढङ्ग पर कहीं-कहीं आपने अवान्तर अथवा एकान्तर अनुप्रास की योजना की है। अर्थात् पहले चरण का तुक तीसरे से और दूसरे का चौथे से मिलाया है। यही

आपके हिसाब इँगलिस्तान और भारत का परस्पर गले लगाना अथवा उनके मिलाप का प्रकटी-करण है। इसी गङ्गा-यमुनी रीति का अवलम्बन करके आपने यह दिखाने की चेष्टा की है कि भारत और इँगलिस्तान आपस में ख़ूब मिले-जुले हैं।

इस अनुवाद को प्रकाशित हुए २० वर्ष हो चुके। प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद हमने इसे देखा था। पर हमारे स्मृति-पथ से यह पुस्तक उतर गई थी। अनुवादक महाशय के चिरञ्जीवी पुत्र श्रीयुक्त करुणाशङ्कर नन्दलाल दवे, बी० ए०, की कृपा से इसका पुनर्दर्शन हमें प्राप्त हुआ है। एतदर्थ हम आपके बहुत कृतज्ञ हैं। पाठक कहेंगे यह 'दवे' (Dave) क्या चीज़ है।

निवेदन है कि यह 'दवे' शब्द 'दुवे' का विकृत रूप, रूपान्तर या उसकी ख़राबी है। करुणाशङ्कर महाशय शायद आजन्म महाराष्ट्रों ही में रहे हैं। उन्हीं की सङ्गति का यह फल है। सम्भव है, मराठों के बीच में 'दुवे' कहलाना आपको पसन्द न हो। इससे बरवे, करवे, भावे, ताँबे आदि महाराष्ट्र लोगों के उपनामों में अपना उपनाम खपाने के लिए आपने 'दुवे' का 'दवे' कर डाला हो। महाराष्ट्र लोग अपने नाम के आगे अपने पिता का भी नाम लिखते हैं। यह बात करुणाशङ्करजी के पिता को भी करनी पड़ी है। पण्डित नन्दलालजी के नाम के आगे विश्वनाथ उनके पिता ही का नाम है। परन्तु दुवे कहलाने में उन्होंने अपनी कोई हानि नहीं समझी।

सब लोग अपने उपनाम को नामान्त में लिखते हैं, आप उसे नाम के आरम्भ में लिखते थे और शायद अब भी लिखते हों। यथा—दुबे नन्दलाल विश्वनाथ। परन्तु आपके आत्मज ने इस 'दुबे' को आगे, पीछे, बीच में कहीं भी रखना पसन्द न करके उसका एकदम रूपान्तर ही कर डाला। मालूम नहीं आपने अपने पूर्व-पुरुषों के और किन-किन चिह्नों का रूपान्तर किया है। अस्तु नाम।

अनुवादक महाशय, पण्डित नन्दलाल विश्वनाथ दुबे, अपनी भूमिका में कहते हैं कि शकुन्तला नाटक का अनुवाद भारत की प्रायः सभी भाषाओं में हो गया है; "पर हिन्दी में इसके पद्य की मनोहरता उसी छन्द में उतारनी बाक़ी रही है। सो चेष्टा इस पुस्तक में की गई है, और छन्द की मधुरता प्रायः उसी अक्षर छन्द में अनुप्रास-सहित उतारी गई है"। आपका यह भी मत है कि संस्कृत-पद्यों का अनुवाद यदि उसी छन्द में नहीं किया जाता तो मूल का भावार्थ ठीक-ठीक व्यक्त नहीं होता। परन्तु हमारी जड़ताक्रान्त बुद्धि के अनुसार यह दुबेजी का भ्रम है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण आप ही की पुस्तक है। यदि अनुवादक योग्य है और कविता करने की शक्ति रखता है तो मूल के भाव को वह जिस छन्द में चाहे याथा-तथ्य दिखा सकता है। और यदि ये बातें उसमें नहीं हैं तो मूल छन्द में अनुवाद करके भी कभी उसे सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। किसी अन्य भाषा के छन्द में कही गई उक्तियां

का अनुवाद उसी छन्द में कर दिखाना बहुत बड़े कवि और अनुभवशील अनुवादक का काम है, सबका नहीं।

इस अनुवाद की भूमिका लिखते समय दुवेजी का शायद यह ख़याल था कि हिन्दी में उनसे पहले किसी ने संस्कृत-प्रयुक्त छन्दों से काम ही नहीं लिया। क्योंकि वे लिखते हैं कि उनका प्रचार "हिन्दी में अभी-अभी होना आरम्भ हुआ है"। परन्तु हमारी प्रार्थना है कि रामचन्द्रिका और रामाश्वमेध आदि पुराने ग्रन्थों के कवियों ने संस्कृत के अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। ख़ैर, उन्हें जाने दीजिए, आपका अनुवाद निकलने के छः-सात वर्ष पहले आपके मध्यप्रदेश ही के बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ ने अपनी श्रावणविहार आदि कई पुस्तकों में ऐसे ही छन्दों का प्रयोग किया था। और, अब तो आपकी कृपा से इन छन्दों का प्रचार इतना बढ़ गया है कि आज तक इन छन्दों में की गई न मालूम कितनी ही कवितायें मासिक पुस्तकों में निकल चुकी हैं और बराबर निकलती जाती हैं। क्या दुवेजी कह सकते हैं कि इन सब कवियों को आपकी शकुन्तला ही में ऐसे छन्द देखकर उन छन्दों में कविता लिखने की प्रवृत्ति हुई ?

दुवेजी ने इस अनुवाद में अधिक परिश्रम किया है, इसमें सन्देह नहीं। जिस पात्र को जैसी भाषा बोलनी चाहिए वैसी ही आपने उसके मुँह से निकलवाने की चेष्टा की है। पुस्तक को छपाया भी आपने बहुत अच्छे प्रेस में है। परन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि आपके अनुवाद का पद्य-भाग बिल-

कुल ही अच्छा नहीं हुआ। १८८८ ईसवी के लगभग शायद किसी ने आपके अनुवाद को कुछ अच्छा भी समझा हो। पर आजकल उसका आदर नहीं हो सकता। आपके गद्य की भाषा भी बहुत जगह पर बनावटी है—विशेष करके स्त्रियों की। उदाहरण—

"शकुन्तला—अहो! यं तरुण वकुल गुल्ला वात धुनी कर-पल्लवसी नवीन कोमलों तें मुहि अपनी ओर टेरतु है, नेकु याकी हु खवर लऊँ"।

यह किस देश की, किस प्रान्त की, किस ज़िले की भाषा है? कहाँ की स्त्रियाँ 'वकुल गुल्ला', 'वातधुनी' और 'खवर लऊँ' बोलती हैं? और 'वातधुनी' का अर्थ सिर्फ़ हिन्दी जाननेवाले कितने आदमी समझ सकते हैं?

जिस समय दुवेजी ने शकुन्तला का अनुवाद किया उस समय राजा लक्ष्मणसिंह का अनुवाद वर्तमान था। अतएव आपको एक और अनुवाद बनाने की तादृश ज़रूरत न थी। हाँ महारानी की जुविली के उत्सव के उपलक्ष्य में यदि कोई पुस्तक लिखनी ही थी तो और कोई लिख डालते। परन्तु बात यह है कि अनुवादक महाशय ने राजा साहब के अनुवाद के पद्य-भाग को हेठा समझकर ही अपने अनुवाद की रचना की है। हेठा उसे आपने इसलिए समझा कि उसके पद्यों में संस्कृत के छन्दों का प्रयोग नहीं हुआ। अर्थात् राजा साहब ने सम-श्लोकी नहीं बनाई। परन्तु इस कारण राजा साहब को अनु-

वाद को बुरा समझना दुबेजी की ग़लती है। उसी छन्द में अनुवाद कर देने ही से अनुवाद अच्छा नहीं हो सकता। छन्द, कविता की आत्मा नहीं। नहीं जानते यह इतनी मोटी बात दुबेजी के ध्यान में क्यों नहीं आई। और, फिर, अन्य अनुवादों की त्रुटियों को दूर करने का बीड़ा उठाकर भी तो आपने अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं किया। मूल कविता के छन्द का आपने सब कहीं हिन्दी में अनुकरण नहीं किया। कहीं-कहीं आपने सवैया, घनाक्षरी और दोहे आदि का भी प्रयोग किया है। क्या शकुन्तला में कालिदास ने इन छन्दों में भी कविता की है? एक तो आपने अपनी प्रतिज्ञा नहीं पूर्ण की, फिर आपने अपने पद्यानुवाद में शब्दों को ऐसा तोड़ा-मरोड़ा है और ऐसे-ऐसे अनोखे शब्दों का प्रयोग किया है कि मूल कविता का रस तद्वत् उतरना तो दूर रहा, उसकी दो चार छींटें भी मुश्किल से आने पाई हैं। प्रमाण—कुसुमायुध को सम्बोधन करके राजा कहता है—

> अद्यापि सत्यं हरकोपवह्नि ते गात ज्यों अर्णवमाहिँ अग्नि।
> नाऽीं तु क्यों भस्मभयेऽपि तू हा! कामी जनाङ्गे जनि घोर दाहा॥

यह कहाँ की भाषा है और इसका अर्थ कौन समझ सकता है? दुबेजी का ही पढ़ाया हुआ कोई विद्यार्थी शायद भले ही समझ सके। ये 'जनाङ्गे' और 'जनि' कौन जानवर हैं! सम्भलपुर में ये बोले जाते हों तो बोले जाते हों। हिन्दी में संस्कृत-विभक्त्यन्त पदों और क्रियाओं का क्या काम? ऐसी

कविता किस काम की जिसे समझाने के लिए हर दफ़े हाथ भर लम्बी टिप्पणी सफ़े के नीचे देनी पड़े ? हम कहते हैं, संस्कृत के छन्द में अनुवाद करने से लाभ क्या हुआ ? कविता का असल मतलब रसास्वादन है, सो तो हुआ नहीं। शब्दों का घटाटोप अलबत्ते सुनने को मिल गया। इसी बात को राजा लक्ष्मणसिंह ने दोहे में कहा है—

अग्नि अजों हर-कोप की दहकति है तो माहिँ।
जैसे बड़वा समुद में संशय नेकहु नाहिँ॥

जो न हेतु होतो यही तौ कैसे तू आप।
भसम भयो मोसे जनन देतो एतौ ताप॥

देखिए, इस दोहे को पढ़ने के साथ ही अर्थ मालूम हो गया। अब चाहे कोई दुबेजी के पूर्वोक्त इन्द्रवज्रा वृत्त से भी यही मतलब निकाल ले; पर अकेले उसी के सहारे दुबेजी का हृद्गत भाव समझ लेना सबका काम नहीं। अब कहिए इन्द्र-वज्रा छन्द का प्रयोग व्यर्थप्राय हो गया या नहीं ? आपका वंशस्थ वृत्त सुनिए—

शिरीष को वृन्त सु कर्ण में भरयो कपोल आलिम्बि न केशरा करयो।
न वा शरच्चन्द्रमरीचि माधुरो मृणाल कौ सूत्रहु जोवना भरयो॥

'आलिम्बि', 'केशरा', 'जोवना' बड़े ही मज़े के हिन्दी शब्द हैं ! नये कोशकारों को ये शब्द चुन लेने चाहिए। एक द्रुतविलम्बित देखिए—

रँगि सखे ! तुअ प्रेमसु तारुणी कुसुम बैठि गही ! सखि वारुणी ।
अहि तृपातुर तौ पिइ ना सती मधुकरि धुँकरी तुहिँ टेरती ॥

पाठक, जब तक आप इन पद्यों का अर्थ सोचते और 'धुँकरी', 'तारुणी', 'प्रेमसु', 'वृत्तसु' आदि की सुन्दरता को सराहने बैठें तब तक हम दुबेजी का एक सवैया सुनावें। दुबेजी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में संस्कृत-प्रयुक्त छन्दों के तो लक्षण लिख दिये हैं, पर 'भाषा'-प्रयुक्त सवैया आदि छन्दों के लक्षण नहीं लिखे। इसलिए कि—"इनकी लक्षण (?) प्राय: सबको मालूम है"। आपने अपने इस अनुवाद में बहुत से सवैये लिखे हैं। उनमें से एक यह है—

मुन्थन को हिंय लेप चढ़्यो मुरझे स्तन पै मृदु नाल बिछे हैं।
अति रमणीय लुभौनी अहो सन्ताप दुःखी सखि कान्ति लखे हैं॥
आतपदाह मनोज व्यथा दुहु एक समान हि देह दमे हैं।
निदाघे पुनि अस तीय रहे कामज्वर के सब भाव लखे हैं॥

सो जिस छन्द की 'लक्षणा' दुनिया भर को मालूम उसी से आप अनभिज्ञ! शुरू तो किया आपने ७ भगण २ गुरुवाला सवैया, पर दूसरे और चौथे चरण में कुछ का कुछ ही लिख गये। शायद आपका यह विषम-गणात्मक सवैया हो! आपके सब सवैयों का प्राय: यही हाल है; प्राय: सबमें छन्दो-भङ्ग है। आप तुकबन्दी करना अथवा अनुप्रास रखना भी अच्छा जानते हैं—कहीं 'बिछे हैं', कहीं 'दमे हैं'! 'अक्षर छन्द' में अनुप्रास लाने के प्रण को आपने खूब ही निबाहा!

यह 'दसे' क्या चीज़ है? और यह समस्यन्त संस्कृत-पद 'निदाघे' किस हिन्दी व्याकरण के बल से रक्खा गया है?

दुबेजी ग़ज़ब के अनुवादक हैं। आप मूल के भाव को अनुवाद में लाये भी बड़ी ख़ूबी से हैं। मूल में है—"स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयम्"—अर्थात् स्तनों पर ख़स लगा हुआ है और मृणाल का एक वलय (कड़ा) ढीला हो गया है। इसका अर्थ आपने लिखा है—"सुन्यन को लिय नेर चहुंओं तुरन्ते स्तन पै मृदु नाल मिठे हैं"! शायद आपकी पोथी में ऐसा ही पाठ हो। पर राजा लक्ष्मणसिंह की पोथी में ऐसा पाठ नहीं। वे लिखते हैं—

लगी ठौर उसीर उरोज रह्यो कर एक सडौल मृनाल-वला।
अजु पीड़ित सो तन है प्रिय को कमनीय तऊ जिमि चन्द्रकला॥
मनमथ तें की कहुँ ग्रीषम को दुहु ताप कड़ावति तुल्य-बला।
यहि भाँतिन प्राण करे न कहूँ मन भावन ऐसी नई अबला।"

तो ऐसे अच्छे अनुवाद के होते भी दुबेजी ने अपना अनुवाद प्रकाशित करने की ज़रूरत समझी। इसे हम साहस के सिवा और क्या कहें। अब दुबेजी से प्रार्थना है कि अनुवादक की कीर्ति-रक्षा के लिए इस अनुवाद की अवशिष्ट कापियों को सन्दूक में बन्द करके मज़बूत ताला लगा दें—न बेचें, न वितरण करें। क्योंकि इसका कोई भी अंश अच्छा नहीं। इसके दो-एक प्रमाण हम और दिये देते हैं। राजा

यह 'दमे' क्या चीज़ है ? और यह सप्तम्यन्त संस्कृत-पद 'निदाघे' किस हिन्दी व्याकरण के बल से रक्खा गया है ?

दुबेजी ग़ज़ब के अनुवादक हैं। आप मूल के भाव को अनुवाद में लाये भी बड़ी ख़ूबी से हैं। मूल में है—"स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलितमृणालैकवलयम्"—अर्थात् स्तनों पर उशीर लगा हुआ है और मृणाल का एक वलय (कड़ा) ढीला हो गया है। उसका अर्थ आपने लिखा है—"मुन्थन को हिय लेप चढ़यो मुरझे स्तन पै मृदु नाल बिछै हैं" ! शायद आपकी पोथी में ऐसा ही पाठ हो। पर राजा लक्ष्मणसिंह की पोथी में ऐसा पाठ नहीं। वे लिखते हैं—

लगि लेप उसीर उरोज रह्यो कर एक सढील मृनाल-बला।
कछु पीड़ित सौ तन है प्रिय कौ कमनीय तऊ जिमि चन्दकला॥
मकरध्वज की अरु ग्रीपम की दुहु ताप कहावति तुल्य-बला।
परि ग्रीपम त्रास करे न कहूँ मन भावन ऐसी नई अबला।'

सो ऐसे अच्छे अनुवाद के होते भी दुबेजी ने अपना अनुवाद प्रकाशित करने की ज़रूरत समझी। इसे हम साहस के सिवा और क्या कहें। अब दुबेजी से प्रार्थना है कि अनुवादक की कीर्त्ति-रक्षा के लिए इस अनुवाद की अवशिष्ट कापियों को सन्दूक़ में बन्द करके मज़बूत ताला लगा दें—न बेचें, न वितरण करें। क्योंकि इसका कोई भी अंश अच्छा नहीं। इसके दो-एक प्रमाण हम और दिये देते हैं। राजा दुष्यन्त कहता है—

मन्द मन्द बिलास पूर्व ब्रिलमी जाती नितम्बी रही,
मा जा जो सखि ने कह्यो उ तिहिपै साक्षेप रूठी रही।
दीन्ही औ पुनि दृष्टि अन्य दृग सो भी आत्मचेष्टा हरी,
जाने में प्रति ही कटाक्ष करती कामातुरी सुन्दरी॥

इस उलझी हुई गाँठ को मूल पुस्तक देखकर चाहे कोई सुलझा भी ले, पर 'मा जा' को दुबेजी के सिवा मजाल क्या जो कोई सुलझा सके। उसका अर्थ है—"मत जा"। 'मा' संस्कृत, 'जा' हिन्दी! इस क़ायदे से दुबेजी 'डोंट जा' और 'नको जा' आदि प्रयोग करने से भी 'बैक (Back) पद' नहीं हो सकते!

सँग रहि किहि दक्षता प्रिया की मधुर विलोकन माहि मृग्गरानी।
कस अहु! धनु तान आज वाकी मुदुल सुदेह सुमारु तीर तानी॥

पाठक, यह पुष्पिताग्रा वृत्त है। इसी से 'सुदेह' 'सुमारु' और 'मृग्गरानी' की शरण जाना पड़ा है। आप मतलब समझें या न समझें, इस अनोखे वृत्त में कविता पढ़ने और अँगरेज़ी तरह की अवान्तर अनुप्रास की छटा देखने को तो मिल गई। "छन्द की मधुरता" जो दुबेजी ने उतारी है, उसका तो कहना ही क्या है। पढ़ने के साथ ही चींटियों के ताँते दौड़ पड़ते हैं। कालिदास की कविता की दुर्दशा करने में आपने तो बहुतों को कोसों पीछे ढकेल दिया। इसी से हमारी प्रार्थना है कि इसका प्रचार बन्द किया जाय। क्योंकि इसके प्रचार से अनुवादक और कालिदास दोनों की

यशोहानि है। दुबेजी ने यदि आज-कल की कविता पढ़ी होगी तो उन्हें मालूम हो गया होगा कि शब्दों को बिना बिगाड़े और बिना 'सु', 'उ' और 'स' की भर्ती किये भी संस्कृत-प्रयुक्त वृत्तों में कविता हो सकती है।

[अक्टूबर १९०८